

CSDS

centre for the
study of developing
societies

फ़िल्म पत्रकारिता का आदिकाल: चाँद, चित्रपट और अन्य कहानियाँ

रविकान्त

DigiPAPERS

02

Publisher :

CSDS Delhi

29, Rajpur Road, Delhi - 110054

Date of Publication :

November 2020

Digital Object Identifier (DOI) no :

ISSN no :

Creative Common license :



Design :

Aniruddh Sharan

Production :

Ravikant, Mrityunjay Chatterjee, Praveen Rai, Chandan Sharma, Ayodhya Verma



*Digi***PAPERS**



दुभाषी इतिहासकार, लेखक और अनुवादक रविकान्त सराय की शुरुआत से ही सीएसडीएस से जुड़े रहे हैं, जहाँ वे फ़िलवद्वत एसोसिएट प्रोफ़ेसर हैं, और भारतीय भाषा कार्यक्रम और उसकी पूर्व-समीक्षित शोध पत्रिका प्रतिमान की संपादकीय टीम के सदस्य भी। अंतर्माध्यम इतिहास पर अपने शोध के सिलसिले में सिनेमा, प्रिंट-पत्रकारिता, रेडियो और इंटरनेट के बीच के अंतर्संबंधों पर उनकी हालिया किताब है मीडिया की भाषा-लीला जिसके मुख्तलिफ़ निबंध एकडेमिया, ईडीयू, गद्यकोश, काफ़िला, जानकी पुल और रचनाकार जैसे चिह्नों पर मौजूद हैं। सोशल मीडिया पर हंस के विशेषांक का सहसंपादन किया और हिंग्लिश के सवाल पर एक सह-संपादित किताब छपा ही चाहती है।

फ़िल्म पत्रकारिता का आदिकाल: चाँद, चित्रपट और अन्य कहानियाँ

सार-संक्षेप

सोचने बैठें तो लगेगा कि 'फ़िल्म अध्ययन' नामक अकादमिक अनुशासन की शुरुआत तो वाकई फ़िल्म-पत्रकारिता से ही हुई। चूँकि उन्हीं पत्रों में ग़ायब सिने-रीलों और सिने-निर्माण-केंद्रों की निशानियाँ मौजूद हैं, चुनांचे एक और वजह बनती है कि फ़िल्मी पत्रकारिता की इतिहास-लेखन-परंपरा को आगे बढ़ाया जाय, उसे थोड़ी और गहराई दी जाय। रंगभूमि और चित्रपट के प्रकाशन के पहले हिन्दी की मुख्यधारा की पत्र-पत्रिकाओं में सिनेमा से जुड़ी छिट-पुट रपटें, लेखन और चिंतन मिलने लगते हैं और उनके विचारधारात्मक पक्ष पर विद्वानों ने क़लम चलाई है। यह परचा इलाहाबाद के चाँद के मूलतः राष्ट्रवादी, प्रगतिशील, नारीप्रिय और जनवादी रुझान को दिल्ली के चित्रपट की फ़िल्मप्रियता, हिन्दीप्रियता और यथार्थप्रियता के प्रति आग्रह में तब्दील होने की कहानी कहता है। दोनों के उद्देश्य मुख्तलिफ़ थे, लेकिन सातवें दशक में शुरु होनेवाली माधुरी की तरह ही चौथे दशक की शुरुआत में निकलने वाले चित्रपट का मिज़ाज भी सुधारवादी ही था, क्योंकि सवाक सिनेमा की सद्यःप्राप्त लोकप्रियता हिन्दी के बुद्धिजीवियों के सामने एक साथ ढेर-सारी चुनौतियाँ पेश करती हैं। फ़िल्मों में महिलाओं के प्रवेश और उसकी शर्तों पर; कथानक के स्रोत व चयन पर; कथोपकथन व गीतों की भाषा के स्वरूप पर; दृश्यविधान और संगीत के औचित्य-अनौचित्य पर तथा सिने-तकनीक व व्यापार के नानाविध पक्षों पर बारीक बहसें होती हैं, जिन पर लाज़िमी तौर पर 'स्वदेशी' वैचारिकी का साया है, लेकिन इसे एक शैक्षणिक परियोजना के रूप में भी देखा जा सकता है। श्रव्य-द्रष्टव्य माध्यम को प्रिंट माध्यम में ले जाने की, सामग्री को साहित्यिक छननी से छानकर शोधने की, और सिने-व्यवसाय को बाइज़्जत व्यवसाय और पारिवारिक पेशा बनाने की अद्भुत आरंभिक कोशिशें थीं ये पत्रिकाएँ। शायद उतना ही महत्वपूर्ण है इन पत्रिकाओं की साज-सज्जा, विज्ञापन-शैली और भाषायी प्रयोगधर्मिता की पड़ताल करना जिससे फ़िल्म-पत्रकारिता की कड़ी दक्षिण एशिया की बाक़ी जनरंजक-संस्कृतियों से जोड़ी जा सके।

बीजशब्द: हिन्दी सिनेमा, टॉकी, छप-संस्कृति, स्वदेशी, महिला-प्रश्न, विज्ञापन, नवाचार.



धार्मिक कहानियों की खुराक थोड़ी ज़्यादा ही दी जा रही है...उद्योग अब तीस साल का हो चला...इसे अब देश को ऐसी फ़िल्में देनी चाहिए, जो हमारे सामाजिक, आर्थिक और दैनंदिन जीवन के बारे में हों।...यह भी एक तरह से हमारी कृतघ्नता है कि जो लोग हमें बेहतरीन मनोरंजन मुहैया कराते हैं हम उनसे कोई वास्ता नहीं रखना चाहते।

- सर्वपल्ली राधाकृष्णन (फ़िल्मइंडिया, 1942)

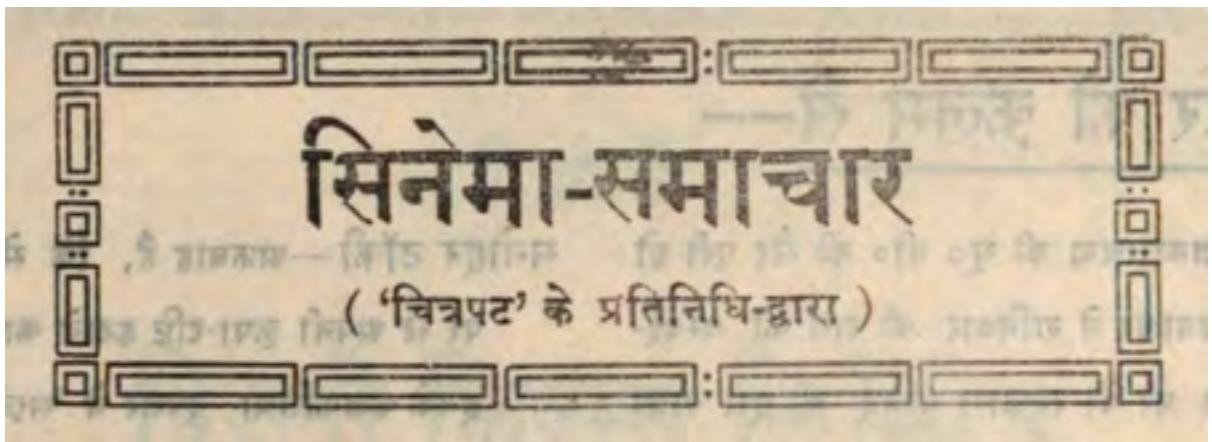
भूमिका

फ़िल्म से जुड़ी पत्रकारिता के बिना 'फ़िल्म-अध्ययन' तो क्या, फ़िल्म व्यवसाय ही असम्भव होता। इस दृष्टि से दोनों का उद्भव भारत सहित पूरी दुनिया में अमूमन एक साथ हुआ होगा, यह मानना तो लाज़िमी है। लेकिन रिवायत है कि भारतीय फ़िल्मों का इतिहास हम फाल्के साहब की राजा हरिश्चंद्र (1913) से शुरू करते हैं, और 'फ़िल्म पत्रकारिता' का आगाज़ पहली फ़िल्म-केंद्रित पत्रिका गुजराती मौज मजा (1924) से मानते हैं। नामकरण की इस प्रवृत्ति में गुज़रे वक्त के विस्तार के अलावा मीडिया-स्वामित्व का असर ज़रूर रहा होगा, क्योंकि पत्रकारिता का ज़्यादातर इतिहास प्रिंट-केंद्रित ग़ैर-सरकारी उद्यमों का है। दूसरे, हमारे यहाँ रेडियो या दूरदर्शन में काम करने वालों को पत्रकार न मान कर प्रसारक, निर्माता, प्रस्तोता, संवाददाता आदि पदेन-संबोधनों से नवाज़ने की परम्परा रही है। उपग्रह टीवी के आने के बाद निजी ख़बरिया चैनलों ने अवश्य पत्रकारिता के पारम्परिक गढ़ में सेंधमारी करके टीवी पत्रकारिता के लिए जगह बनाई है। यह भी विचारणीय है कि एक ऐसे देश में जहाँ सिने-सामग्री बाकी मीडिया को इतनी बड़ी मात्रा में सामग्री परोसती रही हो, वहाँ 'अंतर्माध्यमिकता' सैद्धांतिक नहीं बल्कि अस्तित्व का सवाल है। इसके पीछे लेन-देन का गहरा इतिहास है। बहरहाल, छापेखाने की फ़िल्म-पत्रकारिता को सिने-अध्ययन की आधारशिला और प्रस्थान-बिंदु मानते हुए यह आलेख पिछली सदी के चौथे दशक की सबसे धारदार हिंदी साप्ताहिक फ़िल्म-पत्रिका चित्रपट (1933-34) की गिनती की उपलब्ध फ़ाइलों को धुरी बनाकर उसके रचनात्मक अवदान, सरोकारों, इसरारों और विशेषताओं की पड़ताल करता है, हालाँकि सबसे पुरानी पत्रिका तो रंगभूमि ही है।¹

सिनेमा का यह 'अंतर्माध्यमिक' इतिहास — मार्शल मैक्लुहन की इस बुनियादी अवधारणा से प्रेरित है कि एक मीडिया, मसलन सिनेमा, खुद को दीगर जनसंचार-माध्यमों (प्रिंट, रेडियो, ग्रामोफ़ोन, कैसेट, टेलिविज़न और अब इंटरनेट) के ज़रिये विस्तार देता आया है — एक दिलचस्प संक्रमण-काल में जाकर कुछ ज़रूरी पुरानी कड़ियों को

¹ सर्वविदित है कि 'फ़िल्म अध्ययन' एक अकादमिक अनुशासन है, लेकिन दक्षिण एशिया में इसकी व्यवस्थित निर्मिति, स्वीकृति या पठन-पाठन एक हालिया विकासक्रम है। यह ज़रूर है कि फ़िल्मों और फ़िल्मकारों के बारे में सूचनात्मक से लेकर शोधपूर्ण लेख, पत्र और ग्रंथ तो न जाने कब से छप रहे हैं। फ़िल्म पत्रकारिता की एक बुनियादी कहानी के लिए देखें, बच्चन श्रीवास्तव (1976) : 312-21.

जोड़ने की कोशिश करता है। पिछले तक़रीबन सौ सालों में सिनेमा-क्षेत्र में नज़र, नज़रिये और नज़ारों के धरातल पर ज़ाहिर है कि आसमान-ज़मीन का फ़र्क़ आया है। सिनेमा पहले रेडियो, फिर टेलिविज़न की मार्फ़त ड्रॉइंग रूम और अब इंटरनेट के ज़रिये मोबाइल पर हर कहीं मौजूद है। सिने-पत्रकारिता अब वैसी प्रिंट-केंद्रित कतई नहीं रही जैसी पिछली सदी में थी, और कई फ़िल्मी पत्र-पत्रिकाओं (माधुरी , शमा, सुषमा, पटकथा) के बंद होने के बाद अब दैनिक और मासिक समाचार-पत्र-पत्रिकाओं में फैल गयी है, जहाँ विनोद भारद्वाज, जयप्रकाश चौकसे, राजकुमार केसवानी और अजय ब्रह्मात्मज जैसे अनुभवी स्तंभकार ऐतिहासिक कहानियों, उल्लेखों और स्मृतियों को अधुनातन संदर्भों से यथासंभव जोड़ते हुए नवीकृत करते रहते हैं।² मुमकिन है आज के पाठकों को यह इतिहास शायद उतना अजनबी न लगे, क्योंकि अंग्रेज़ी राज में उपजे चंद राष्ट्रवादी विमर्शों की अनुगूँज आज़ादी के बाद की फ़िल्म-पत्रकारिता में भी थोड़े अलग सुर-ताल के साथ जब-तब सुनाई देती रही है। शायद उतनी ही ग़ौरतलब चीज़ यह है कि उस दौर की फ़िल्मों की बात करते हुए हम एक अनुपस्थित सांस्कृतिक उपादान से मुखातिब हैं। कारण यह कि ज़्यादातर फ़िल्मों की सेल्यूलॉयड रीलें या उनकी डिजिटल नक़लें किसी भी अभिलेखागार में मौजूद नहीं हैं। उनके ऐतिहासिक अस्तित्व की एकमात्र और वह भी मात्र-कागज़ी निशानी ये पत्र-पत्रिकाएँ और उनमें छपी कहानियाँ, कविताएँ, सचित्र-गीत-डायलॉग, पोस्टर, विज्ञापन या समीक्षाएँ ही हैं। इस तरह एक अनुपस्थित अभिलेखागार से



² शुक्र है कि समय-समय पर इनके स्तंभ किताबों की शक़ल में आते रहे हैं। देखें, विनोद भारद्वाज (2006).; राजकुमार केसवानी (2011); अजय ब्रह्मात्मज (2006).; प्रियंवद (2018) ने चाँद और माधुरी से लेकर एक चयन प्रकाशित किया है, जिसके सातवें खण्ड में कुछ लेख सिनेमा के हिस्से भी आ गये हैं।

इतिहास-लेखन के एवज़ी स्रोत हैं ये कागज़ी दस्तावेज़। लेकिन निशानदेही करने से परे, बदनाम सिने-व्यवसाय को मानवीकृत कर आम समाज में प्रतिष्ठित करने और इन दोनों संसारों के बीच पुल बनाने या फ़िल्म-अध्ययन को शैक्षणिक उपक्रम के रूप में खड़ा करने और एक नयी प्रौद्योगिकी व व्यवसाय के लिए नयी शब्दावली या विमर्श गढ़ने की फ़िल्म-पत्रकारों की रचनात्मक कोशिशों पर विद्वानों का ध्यान पिछली सदी में कम ही गया था। हाँ औत्सविक, जुबली-मौकों पर या खुद फ़िल्मी पत्र-पत्रिकाओं में या फिर पत्रकारिता के इतिहास की किताबों में गाहे-ब-गाहे गुरु-गम्भीर, नैतिकता के आडम्बर में लिपटे सर्वेक्षण-नुमा निबंध हिंदी, अंग्रेज़ी और उर्दू में छपते रहे हैं।³



³ टी.एम. रामचंद्रन (1985); राम मुरारी (2013) : 349-54. विभास चंद्र वर्मा (2013) : 355-60.



पिछली सदी में व्याप्त पारम्परिक विद्वेष की वजहों का ज़िक्र रेचेल डॉयर ने अंग्रेज़ी पत्रिका **स्टारडस्ट** के अपने अध्ययन में किया है कि एक तरफ़ तो सिनेमा को ही छिछला-छिछोरा माध्यम माना गया काफ़ी समय तक, और साथ ही इन पत्रिकाओं में 'चूँकि फ़िल्मों पर सामग्री कम और ऊबी हुई सुखी गृहिणियों की दिलजोई करने के लिए सिने-सितारों से जुड़ी चटपटी चेमेगोइयाँ ज़्यादा छपती थीं, इसलिए विद्वानों ने इस 'पंक-पयोधि' से किनाराकशी कर ली'⁴ गृहिणियों के प्रति रेचेल की किंचित हल्की टिप्पणी को नज़रअंदाज़ करने के बाद हमें मानना चाहिए कि उन्होंने न केवल पारंपरिक अभिजनवादी दृष्टि को चुनौती दी, बल्कि फ़िल्मी गॉसिप का भी गंभीरतापूर्वक आकलन किया, क्योंकि बग़ैर ईर्ष्या पैदा करने वाले रसीले गप्प के सितारा-संस्कृति का रुमानी सृजन व मायावी निर्वहन भी तो मुमकिन नहीं था!⁵ नीपा मजुमदार ने शुरुआती तारिकाओं पर केंद्रित अपनी बेहतरीन किताब में इससे आगे जा कर कहा है कि 'गॉसिप, अफ़वाह व स्कैंडल' अथवा काण्ड दरअसल एक ही सार्वजनिक विमर्श के मुख्तलिफ़ वज़न वाले अंदाज़-ए-बयान हैं, और वैसे तो गॉसिप या खुसुर-पुसुर का स्त्रीलिंग होना महज़ इत्तेफ़ाक़ नहीं, पर साथ ही हिंदुस्तानी फ़िल्मी पत्रकारिता में एक तरह के परहेज़, आत्मसंयम, ज़ब्त या

⁴ रेचेल डॉयर (2001) : 247

⁵ फ़िल्मफ़ेयर के सम्पादक बी.के. करंजिया ने विनोद तिवारी से कहा : '...हम किसी भी अफ़वाह को ख़बर के रूप में नहीं छापते थे, पूछताछ करके ही काम करते थे, लेकिन अगर फ़िल्मों में अफ़वाह न होगी तो इस दुनिया में रंगीनी कैसे आएगी, इसलिए फ़िल्म गॉसिप भी जरूरी है.' देखें, विनोद तिवारी (2007) : 75.

लगाम की रिवायत⁶ से इन्कार नहीं किया जा सकता; कि गॉसिप अभिधा में, खुलेआम न करके इशारों-इशारों में या किसी आलंब, ब्याज या छायानुवाद के सहारे किया जाता रहा है, कुछ यूँ कि उसको पढ़ने-सुनने में एक अदबी लुत्फ़ मिले (नीपा मजुमदार 2010)। हमें आगे चल कर चित्रपट की निहायत मर्यादित गॉसिप-प्रसारण की रणनीति पर चर्चा का मौका मिलेगा।

देबश्री मुखर्जी (2013) ने बाबूराव पटेल, स'आदत हसन मंटो और ख्वाजा अहमद अब्बास आदि लेखक-पत्रकारों की अभिव्यक्तियों को मुम्बई शहर और सिनेमा के संगम पर किये गये तजुर्बों की तर्जुमानी मान कर परखा है। चौखी भाषा और तीखे मुहावरे से लैस निर्भीक सिनेमा-रिपोर्टिंग और आलोचना की पुरखतर, दीर्घ और शक्तिसंपन्न पारी खेलने वाले बाबूराव पटेल और आगे चल कर उनकी दूसरी पत्नी सुशीला रानी द्वारा सम्पादित अंग्रेज़ी मासिक [फ़िल्मइंडिया](#) पर अलग से एक सुदर्शन, कॉफ़ी-टेबलनुमा पुस्तक(सिद्धार्थ भाटिया 2015) आयी है, जिसमें परिचयात्मक आलेखों के अलावा चिकने कागज़ पर पुनरुत्पादित बेहतरीन फ़िल्मी पोस्टर इस क्रिस्म की पत्रिकाओं की साज-सज्जा या डिज़ाइन की ओर हमारा ध्यान खींचते हैं। आम उपभोग की शायद ही कोई पत्रिका उन दिनों इतनी ताम-झाम से छपती थी। चौथे दशक की शुरुआत से ही पटेल ने पत्रकारिता के साथ कई फ़िल्मों का निर्माण और निर्देशन⁷ भी किया, और प्रशिक्षित आकाशवाणी-गायिका सुशीला रानी ने द्रौपदी (1944) और ग्वालन (1946) जैसे घरेलू प्रोडक्शनों में नायिका की भूमिका भी की, जिसका लक-दक विज्ञापन उनकी अपनी पत्रिका में भी छपा।⁸ राजनीतिक लिहाज़ से दिलचस्प है कि दक्षिणपंथी पटेल

⁶ बक्रौल अरविंद कुमार, उनका विश्वास पत्रकारिता में था, न कि अफ़वाहकारिता में, देखें, विनोद तिवारी (2007) : 74. पत्रकार से फ़िल्मकार बने अविनाश दास ने तद्ब्रुव के सद्यः प्रकाशित मीडिया विशेषांक में अपनी टिप्पणी 'सुचिंतित आलोचना का सूखा कब ख़त्म होगा?' में अरविंदजी की बात की तस्दीक़ की है, 'गाशिप (!) से अलग सिनेमा की दुनिया में मानवीय तरीके से झाँकने की कोशिश माधुरी में छपे लेखों में होती थी. थोड़ी बहुत सिनेमा की सामाजिक विवेचना भी होती थी.' देखें, अविनाश दास (2020) : 306.

⁷ सिद्धार्थ भाटिया (2015) : 23. पटेल की सती महानंदा 1933 में आयी, जिसका विज्ञापन 19 जनवरी के चित्रपट में भी आया.

⁸ देखें जनवरी से लेकर अक्टूबर, फ़िल्मइंडिया, 1944 के अंक.

बतौर सम्पादक अपने समय के दो लोकप्रिय हलकों— राजनीति और सिनेमा— के बीच तनी हुई रस्सी को अपनी सधी लेखनी से साधते रहे और अपने पाठकों से भी आड़े-तिरछे सवाल-जवाब के ज़रिये सीधे जुड़े रहे। राजनीति से पटेल के इस संजीदा लगाव के चलते फ़िल्मइंडिया को मद्रइंडिया बनना ही था, फिर पटेल साहब को चुनाव भी लड़ना ही था, लेकिन जीवन के आखिरी चरण में उन्होंने आध्यात्मिक लेखन ही ज़्यादा किया। प्रसंगवश ज़िक्र ज़रूरी है कि राजनीति और सिनेमा से ही उभरते जन-वादी समाज के नये सितारे पैदा हो रहे थे, बल्कि गाँधी, नेहरू, मौलाना आज़ाद और सरोजिनी नायडू जैसे नेता ई. बिल्लीमोरिया, कुंदन लाल सहगल, सुलोचना और गौहर से कहीं ज़्यादा मशहूर-ओ-मारुफ़ थे। तभी तो गाँधी का [रामराज्य](#) देखना इतनी खास ख़बर बनता है, और उनका सिनेमा-विरोध का आम रवैया अब्बास को इतना परेशान करता है कि वे अपने प्रेरणा-पुरुष से बहस करने के लिए सार्वजनिक अखाड़े में उतर पड़ते हैं।⁹

सिद्धार्थ भाटिया और देबश्री मुखर्जी से पहले भी बेशक तमाम क्रिस्म के फ़िल्म अध्येताओं ने नानाविध विषयों पर लिखने के लिए फ़िल्मी पत्र-पत्रिकाओं का बतौर स्रोत-सामग्री इस्तेमाल किया है और कुछ ने बख़ूबी किया है। मिसाल के तौर पर वीर भारत तलवार (1994) ने प्रेमचंद के सेवासदन पर इसी नाम से फ़िल्म बनने की यात्रा, उसमें चित्रपट नामक फ़िल्मी साप्ताहिक की भूमिका और फ़िल्म की असफलता के माध्यम से क्रूर पूंजीवादी फ़िल्मी दुनिया में बतौर साहित्यकार प्रेमचंद के हुए हताशाजनक तजुर्बे की सिलसिलेवार अक्कासी की है। एक श्लाघ्य दृष्टांत इतिहासकार कौशिक भौमिक का भी है, जिनके डॉक्टरेट शोध-प्रबंध (2001) में सरकारी और पत्रकारी स्रोत की जुगलबंदी सिनेमा के आदिकाल और टॉकीज़ या बोलपट के रूप में उसके संक्रमण की कहानी को पूरे सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक पसमंज़र के साथ पेश करती है। आशीष राजाध्यक्ष और पॉल विलमैन के [एनसायक्लोपीडिया](#) में पत्र-पत्रिकाओं की एक आरम्भिक पर उपयोगी सूची है और उनका इस्तेमाल गुमनाम फ़िल्मों के बारे में जानकारी मुहैया कराने की कोशिश में भी दिखता है। हाल में अनुष्टुप बसु ने एक अच्छा लेख

⁹ ख़्वाजा अहमद अब्बास (1993) : 141-45. इसके हिंदी अनुवाद ('सिनेमा को आशीर्वाद दीजिए महात्मा जी') और गाँधी को लेकर बनी फ़िल्मों के लिए देखें, इक्रबाल रिज़वी (2019).

फ़िल्मफ़ेयर में बंगाली सिनेमा-विषयक-लेखन और रिपोर्टाज पर लिखा है, जिसमें बंगाली सिनेमा को वैश्विक सिनेमा की कलात्मक धारा का हिंदुस्तानी प्रतिनिधि बताते हुए बम्बइया मुख्यधारा के बंगाली फ़िल्मकारों से किनाराकशी किये जाने का दिलचस्प मंज़र उभरता है।¹⁰

आज़ादी के बाद की फ़िल्म-पत्रकारिता पर एक पूरी विवरणात्मक किताब माधुरी और प्रिया के सम्पादक रहे विनोद तिवारी (2007) ने लिखी है, जो पत्रकारिता के इतिहास के संरक्षण का स्वघोषित प्रयास है। लेकिन विश्वविद्यालयी प्रकाशन होने के बावजूद इसमें सामग्री-केंद्रित विश्लेषण अत्यल्प है, और संदर्भों की अपूर्णता शोधार्थियों को अपने बाल नोचने पर मजबूर कर सकती है। माधुरी के मशहूर संस्थापक-सम्पादक अरविंद कुमार के बौद्धिक तजुर्बों का बयान करते निबंधों के संकलन, शब्दवेध, में माधुरी -काल के उनके बेहद ज़रूरी संस्मरण हैं, और उन्हीं के दौर की माधुरी पर एक स्रोत-चिंतननुमा लेख भी है, जिससे कहीं-कहीं असहमति होने के बावजूद और जिरह करते हुए उन्हींने किताब में जगह देने की उदारता दिखाई है। इस लेख से कम-से-कम यह तो पता चलता ही है कि कितने तरह के इतिहास कच्चे माल की सूरत में माधुरी-जैसी फ़िल्मी पत्रिकाओं के पन्नों में ऊँघ रहे हैं (रविकान्त 2016), जिनकी क्रतरनें सिने-प्रशंसकों के असली या आभासी घरों में आसानी से मिल जाती हैं। मिसाल के तौर पर, इसी माधुरी में छपी गीतों की स्वरलिपियों की जड़ें दरअसल तीसरे दशक की चाँद, माधुरी और चित्रपट जैसी पत्रिकाओं तक जाती हैं, एक ऐसी रिवायत जिसे संगीत नामक पत्र ने चौथे दशक की संगीत-शिक्षा की किताबों के प्रकाशन से लेकर अब तक अविच्छिन्न रखा है, और जिसका अध्ययन हालिया शोध में बाक्रायदा नुमाइंदगी पाता है।¹¹ पर काका हाथरसी के पूर्वजों द्वारा स्थापित और उत्तर भारत में शास्त्रीय और सुगम संगीत के पठन-पाठन की सामग्री की लगातार आपूर्ति करने वाले इस प्रकाशन-गृह ने न सिर्फ़ फ़िल्मी गीतों के असंख्य

¹⁰ फ़िल्मफ़ेयर की भगिनी-पत्रिका माधुरी का भी हार्दिक झुकाव कलात्मक धारा की ओर ही था, लेकिन उसकी भाषा-भक्ति कहीं ज़्यादा प्रबल थी।

¹¹ संगीत-श्रवण की लोकप्रिय संस्कृति का अभिनव इतिहास लिखने वाली विभूति दुग्गल (2015) ने स्वरलिपियों पर लिखा है, जबकि नरेश कुमार (2019) ने संगीत कार्यालय का इतिहास लिखने की शुरुआत की है।

विशेषांक निकाले बल्कि कुछ समय तक फ़िल्म संगीत नामक एक पत्र भी निकाला जिसके पन्नों में शास्त्रीय और सिनेमाई का मणिकांचन संयोग हुआ। ग्रामोफ़ोन रिकॉर्डों के वैज्ञापनिक स्रोतों के आधार पर स्टीव ह्यूज़ ने आज़ादी के पहले के दक्षिण भारत के शास्त्रीय, सुगम और फ़िल्मी संगीत का निहायत मानीखेज़ सामाजिक इतिहास लिखा है। गीतों की बात करें तो हिंदी सिनेमा के इतिहासकारों ने ग़ैर-फ़िल्मी पत्रिकाओं में वक्तन-फ़वक्तन निकलने वाले फ़िल्म-विशेषांकों का भी अच्छा इस्तेमाल किया है, और ऐसे आरंभिक लेकिन ठोस साहित्यिक प्रयास के रूप में सातवें दशक में ओंकारप्रसाद माहेश्वरी द्वारा लिखे और आगरा से छपे (1978) हिंदी चित्रपट का गीति-साहित्य का नाम लिया ही जाना चाहिए।



विषय-सूची

—४३५३—

संख्या	विषय	लेखक
१	अ—विषय (कविता)	श्री० पं० ज्योत्सनादेव उपाध्याय 'हरिऔध'
	आ—गीत (कविता), उल्लास (कविता)	श्री० दुर्गादेव विहारी, श्रीमती ज्योत्सनादेवी सुब्बा 'सखी'
२	असाधारण	
३	एम् की चाची (कहानी)	श्री० जगदीश चरण
४	पौधुवागण और मुगलबागोममलन की स्थिति	श्री० जगदीश चरण
५	—१९३१ और उमराव किरण-व्यवहार	श्री० जगदीश चरण
६	पूरीय की लय में नयी किरण-कल्पित 'उमरा'	श्री० जगदीश चरण
७	—भद्र महिलाओं और कुलीन युवकों के सम्बन्ध-वेध में	श्री० जगदीश चरण
	आने के कारण	श्री० जगदीश चरण
८	समाचार-किरण	श्री० रामदास सुब्बा एम्० ए०
९	मेरा ज्योष (कविता)	श्री० विवेकानन्द किरण 'विजय'
१०	द्विज प्रौढीगाथी	एक सार्वभर
११	द्वितीय की कुछ बातें	श्री० जगदीश चरण
१२	मुगलबाग (कहानी)	श्री० जगदीश चरण
१३	एक किरण-कल्पित	'हरिऔध'
१४	श्री० विजयदेविका से हलान्	श्री० 'विशेष'
१५	बादशाह केराजकर	श्री० माधव देव
१६	भारतीय सार्वभरों का कला-विचार	श्री० देव गजानन्द जयान् एम्० ए०
१७	"पद्येण" (प्रहसन)	श्री० विद्यानन्द जयान् 'कीर्तिक'
१८	समेरिका के विप्लव-समिन्धन, समिन्धन और सार्वभर	श्री० पं० जगदीश चरण एम्० ए०
१९	भारतीय सिनेमा-व्यवहार-द्वारा सिनेमों में गई हुई सम्बन्ध	श्री० जगदीश चरण
२०	स्वप्ना ज्योष के नाम सुनी चिन्ती	श्री० देवगजानन्द किरण 'देवरा'
२१	सिनेमा-गा	श्री० देव, पद्मीसमिन्धन
२२	सङ्गीत किरण	श्री० श्री० जगदीश
२३	—हरण, उमरा और ज्योषी का किरण-व्यवहार	श्रीमती रत्न 'ज्यो'
२४	कला किरण	श्री० देवगजानन्द एम्० ए०
२५	—इन्दो पर जग	श्रीमती ज्योत्सनादेवी सुब्बा
२६	किरण-कला पर दृष्टी-सिन्धन	श्री० पद्मीसमिन्धन

संख्या	विषय	लेखक
२७	—सिन्धन गीत	श्री० किरण कुमार
२८	—समाचार के सार्वभरान	श्री० 'सद्व्यवहार'
२९	—सिन्धो का वेर (प्रहसन)	श्री० श्री० श्री० ज्योत्सनादेव एम्० ए०, एम्० एम्० श्री०
३०	—द्वितीय (कविता)	श्री० जगदीश चरण 'किरण'
३१	—समाचार की कुछ किरण-कल्पित पद्य-सिन्धन	श्री० देवगजानन्द किरण 'देवरा'
३२	—कुछ सार्वभर ज्योष	श्री० 'सद्व्यवहार'
३३	—सिन्धो की कला	श्री० देवगजानन्द किरण 'देवरा'
३४	—सिन्धो (कहानी)	श्री० जगदीश चरण
३५	—समाचार किरण-कल्पित पद्य-सिन्धन	श्री० देवगजानन्द किरण 'देवरा'
३६	—सिन्धो का वेर (कविता)	श्री० जगदीश चरण
३७	—सिनेमा-सिनेमा-सिनेमा में प्रहसन	श्री० जगदीश चरण
३८	—सिन्धो (कविता)	श्री० जगदीश चरण
३९	—सिन्धो और ज्योष किरणों का सिन्धन	श्री० जगदीश चरण
४०	—समाचार (कहानी)	श्री० एम्० श्री० देवरा
४१	—सिन्धो-सिनेमा	श्री० जगदीश चरण
४२	—समाचार किरण-कल्पित का सिनेमा-सिनेमा	श्री० जगदीश चरण
४३	—सिन्धो के दो सार्वभर और उमरा किरण	श्री० जगदीश चरण 'विद्युत'
४४	—सिन्धो के सार्वभर	श्री० जगदीश चरण
४५	—सिन्धो का वेर (कविता)	श्री० 'सिन्धो'
४६	—सिनेमा-सिनेमा-सिनेमा के सार्वभर एक सार्वभर	श्री० जगदीश चरण
४७	—सिनेमा-सिनेमा-सिनेमा के सिनेमा सार्वभर	एक सिनेमा सिनेमा
४८	—समाचार-समाचार-सिनेमा	श्री० जगदीश चरण
४९	—समाचार-सिनेमा-सिनेमा में एक सार्वभर	श्री० देवगजानन्द किरण 'सिनेमा'
५०	—सिन्धो एम्० एम्० सिनेमा-सिनेमा	
५१	—समाचार-सिनेमा-सिनेमा का सिनेमा	
५२	—सिनेमा-सिनेमा और उमरा किरणों का सिनेमा	
५३	—सिनेमा-सिनेमा (सिनेमा-सिनेमा)	श्री० जगदीश चरण
५४	—श्री० सिनेमा-सिनेमा या सिनेमा-सिनेमा	
५५	—सिनेमा और सिनेमा-सिनेमा	श्री० जगदीश चरण श्री० देवरा
५६	—सिनेमा-सिनेमा-सिनेमा	श्री० एम्० श्री० जगदीश
५७	—सिनेमा में सिनेमा-सिनेमा	श्री० श्री० जगदीश
५८	—सिनेमा-सिनेमा	

मुद्रक, उपाध्याय श्री० जगदीश चरण के सिनेमा 'सिनेमा-सिनेमा-सिनेमा' काशी बाजार, सिन्धो में मुद्रा ।

हिंदी फ़िल्म पत्रकारिता

इतिहास-लेखन की उपरोक्त बानगी से फ़िल्मी पत्र-पत्रिकाओं में छपी सामग्री से किस क्रिस्म के इतिहास अब तक लिखे गये हैं, इसका थोड़ा अंदाज़ा मिल गया होगा। जहाँ तक वैचारिकी का सवाल है, पहली नज़र में चित्रपट के ज़माने से लेकर माधुरी तक एक विलक्षण निरंतरता सम्पादकीय एजेंडे की अभिव्यक्तियों में नज़र आती है। याद करें कि अरविंद कुमार ने माधुरी के तीसरे साल में प्रवेश करने पर सम्पादकीय में लिखा था, 'हिंदी में सिनेपत्रकारिता सभ्य, सम्भ्रांत और सुशिक्षित परिवारों द्वारा उपेक्षित रही है। सिनेमा को ही अभी तक हमारे परिवारों ने पूरी तरह स्वीकार नहीं किया है। फ़िल्में देखना बड़े-बूढ़े उच्छृंखलता की निशानी मानते हैं। कुछ फ़िल्मकारों ने अपनी फ़िल्मों के सस्तेपन

से इस धारणा की पुष्टि की है। ऐसी हालत में फ़िल्म पत्रिका का परिवारों में स्वागत होना कठिन ही था।¹² सन 1983 में भारतीय सिनेमा के 70 साल पूरे होने पर 1937 से फ़िल्म पत्रकारिता करने वाले टी.एम. रामचंद्रन (1985 : 310) ने लिखा, 'शुरुआती दौर में फ़िल्मों और फ़िल्मी पत्रकारों को अछूत समझा जाता था। आज भी उनके साथ कोढ़ियों-सा बर्ताव किया जाता है, जिसके लिए वे खुद ज़िम्मेदार हैं।' रामचंद्रन का नतीजा है कि फ़िल्मकारों, सम्पादकों और कुपात्र पत्रकारों में, यानि चतुर्दिक पेशेवराना रियाज़ की घनघोर कमी के चलते फ़िल्म पत्रकारिता में पर्याप्त गहराई या वज़न नहीं पैदा हो पाया कि उसे संजीदा विधा माना जा सके।

इतिहासकार के नज़रिये से देखने पर साफ़ हो जाता है कि बार-बार दुहराए जा रहे इन शाश्वत मूल्य-निर्णयों में पसरी निरंतरता महज़ सतही है, क्योंकि चित्रपट से चलकर माधुरी तक तो सिनेमा दिखाने व देखने वालों के रवैये और सिने-पत्रकारिता के रियाज़ में आमूल परिवर्तन आ चुका था। मिसाल के तौर पर, सिनेमा में सुधार की बात तो दोनों ही पत्रिकाएँ कर रही हैं, लेकिन दोनों में सुधार की परिभाषा, एजेंडा और रास्ता एक बिंदु के बाद अलहदा हो जाते हैं, वैसे ही जैसे कि छोटे-छोटे शहरों तक जनसांख्यिकीय विस्तार पाते मध्यवर्गीय पाठकवर्ग के हस्तक्षेप को लेकर किये जा रहे आह्वान में गुणात्मक अंतर भी आ जाता है — चित्रपट में नाकाबिले-बर्दाश्त फ़िल्मों के खिलाफ़ आवाज़ उठाने वाली जनता एकाध अवसर को छोड़कर एक वांछित और काल्पनिक ईकाई है, जिन्हें जगाने की चेष्टा सम्पादकगण कर रहे हैं, जबकि चौथे-पाँचवें दशक तक आते-आते हर पखवाड़े न केवल शमा और रंगभूमि में उनकी चिट्ठियाँ छप रही हैं और सातवें दशक की माधुरी के पत्रों में वे निरे फ़ैन से लेकर भाषाई पहरेदारी तक और बतौर दर्शक अपने हक़ के लिए आवाज़ उठाने के लिए भाँति-भाँति के बैनरों तले संगठित भी हो रहे हैं।

दुभाषी इतिहासकार ललित जोशी (2009) ने आज़ादी के पहले की हिंदी पत्र-पत्रिकाओं, खास तौर पर माधुरी (1920-50), चाँद (1923 में स्थापित) और सुधा (1927 से चालू) में छपी सिनेमा-विषयक सामग्री का विश्लेषणात्मक आकलन किया है,

¹² 'आत्मनिवेदन', माधुरी, 11 फ़रवरी, 1966.

जिसमें सिनेमा को लेकर मची राष्ट्रवादी ऊहापोह, अच्छी फ़िल्मों की नैतिकता, उसकी भाषा को लेकर असंतोष की अभिव्यक्ति, सिने-संसार में भले घर की महिलाओं के प्रवेश को लेकर विवाद के साथ-साथ सिने-आलोचना के विकासमान शिल्प और तकनीकी नवाचारों से दो-चार होने की कोशिशों का जायज़ा लिया है। बतौर निष्कर्ष वे कहते हैं :

तीसरे दशक से राष्ट्रीय आंदोलन के जनांदोलन बनने के बाद हिंदी पत्र-पत्रिकाओं में असाधारण विकास होता है, जिसके चलते साहित्यकारों को उस समय के बहस-मुबाहिसें में हस्तक्षेप करने का माकूल माहौल मिलता है। कुछ बहसों तो हिंदी के बौद्धिक जनपद में ही पैदा हुईं जिनमें लेखकों ने निर्माणाधीन राष्ट्रीय संस्कृति में बतौर उस्ताद मध्यस्थता करने की कोशिश की। इसी चेष्टा के तहत उन्होंने सोचा कि वे सिनेमा को आलोचनात्मक विश्लेषण और संजीदा विमर्श का विषय बनाने में कामयाब होंगे। इस तरह भारतीय सिनेमा और उसकी क्रिस्सागोई, छाया-चित्रण, नैतिकता, सौंदर्यशास्त्र और उपयोगिता गहन साहित्यिक खयालगोई के विषय बने। यह उस राष्ट्रवादी विमर्श से कितना मुख्तलिफ़ था जिसने या तो सिनेमा को नज़रअंदाज़ किया था या उसे राष्ट्रवादी प्रचार का औज़ार-मात्र माना था, लेकिन इसको लेकर किसी सैद्धांतिक बहस में उलझने की ज़हमत नहीं उठाई थी।(पृ. 44-45)

सामान्य रुचि की राजनीतिक-साहित्यिक पत्रकारिता, जिसे हैबरमास की तर्ज़ पर 'हिंदी लोकवृत्त' की संज्ञा दी गयी है, उसके इतिहास पर तो अंग्रेज़ी और हिंदी में, कच्ची और प्रसंस्कृत, व्यक्ति व संस्था-केंद्रित दोनों कोटियों की प्रचुर सामग्री उपलब्ध है।¹³ वैसे, 'राष्ट्रवादी विमर्श' से यहाँ ललित जोशी की मुराद राजनीतिक नेताओं के रुख से है, लेकिन हम आगे देखेंगे कि हिंदी बौद्धिक जनपद खुद अपनी विरासत से उलझा हुआ था और सिनेमा में आगे की राह अपने ही आजमूदा नक्शों में तलाश रहा था। अब एक और निष्कर्ष पर ध्यान दें

फ़िल्म उद्योग में हिंदुस्तानी के जारी प्रयोग को 'हिंदी' आंदोलन की उपलब्धियों पर कुठाराघात समझा जा रहा था। लेखकों को इसका मलाल था कि भारतीय फ़िल्में

¹³ वसुधा डालमिया (1997); फ़्रंचेस्का ओर्सीनी (2003) तथा (2009); अविनाश कुमार (2002); शंभुनाथ व रामनिवास द्विवेदी (2012); चारु गुप्ता (2001).

पाश्चात्य फ़िल्मों से तकनीकी और सौंदर्यशास्त्रीय स्तरों पर हीन ठहरती थीं, लेकिन इन्हीं से विदेशी संस्कृति के प्रचार-प्रसार की उनकी कोशिशों को चुनौती देने की उम्मीद भी की जा सकती थी। हिंदुस्तान में अच्छी (शिक्षाप्रद) फ़िल्में बननी हैं तो इस माध्यम के प्रति आलोचनात्मक रवैया विकसित करके लोगों को पारखी बनाने की ज़रूरत होगी। उद्योग में महिलाओं के प्रवेश का नाजुक सवाल बहुतांशों को उद्वेलित कर रहा था... इस चेतावनी के साथ लगातार लेख पर लेख लिखे जा रहे थे कि 'सिनेमा-लाइन' में करियर तलाशना खुद के लिए विनाश को न्यौता देना है। कुल मिलाकर लेखन का यह ज़खीरा सिनेमा-इतिहास के आदिकाल को राष्ट्रीय आंदोलन के क्लाइमैक्स वाले दशकों के संदर्भ में रखकर फिर से विचारने की विपुल सामग्री प्रदान करता है। (ज़ोर हमारा)

एक बार फिर ललित जोशी के ज़्यादातर नतीजे मोटे तौर पर सही हैं, लेकिन अगर हम तफ़्सील में उतरेंगे तो पाएँगे कि, मिसाल के तौर पर, सिनेमा में महिलाओं के प्रवेश पर तमाम लेखक-सम्पादकों का आग्रह इतना कठोर या यकसाँ नहीं था, बल्कि वे इस मसले को लेकर काफ़ी बारीक बुनाई कर रहे थे। हमारी कोशिश होगी कि हम ललित जोशी के कैमरे में ज़ूम लेंस लगाकर इस बारीक कताई और बुनाई में अदृश्य रह गये ताने-बाने को उजागर करें।

महज़ संयोग नहीं कि वाचाल होने के साथ भारतीय सिनेमा अप्रत्याशित लोकप्रियता हासिल करता है और उसकी भाषाई पहचान भी बनती है, हालाँकि महाराष्ट्र में मराठी-हिंदी (और कभी-कभार तमिल-तेलुगु) और बंगाल में बंगाली-हिंदी के दुभाषी युग्म में फ़िल्में बनने का सिलसिला भी दस-पंद्रह सालों तक चला। भाषायी दक्षता से महरूम कुछ अभिनेता-अभिनेत्री नेपथ्य में चले गये और चार्ली चैपलिन के ढेर-सारे प्रशंसक-आलोचकों ने बोलती फ़िल्मों को स्वीकार नहीं किया, लेकिन घड़ी की सुई उलटी दिशा में मोड़ी नहीं जा सकती थी। आवाज़, तलफ़ुज़ और संगीत की सार्थकता, और भारतीयता की कसौटियाँ लेकर फ़िल्म-समीक्षा का एक नया अनुभाग खुल रहा था। ख़ामोश फ़िल्मों के इंटरटायटिल यानि पर्दे पर छपे शब्दों और पिट से आते गीत-संगीत या पार्श्व से लाइव



[मास्टर दीनानाथ: दुर्लभ तस्वीर]



प्रसारित 'आँखों देखा हाल' से सिनेमा की असंपृक्ति होती है, फिर श्रव्यरूप में भाषा के साथ समेकित सर्वांग-संपृक्ति होती है, कहें कि दोनों के बीच गहनतर रिश्ता बनने लगता है। यद्यपि हम देखेंगे कि 'बोलते-नाचते-गाते' खेलों की उत्तेजना पूरी तरह खत्म नहीं हुई है, और न ही पारंपरिक मुजरा-नाच के अतिरिक्त आकर्षण को घुसा देने के लोभ का संवरण सारे प्रदर्शक कर पाए थे।

ऐसे हालात में व्यावसायिक बाकायदगी के साथ रंगभूमि की शकल में हिंदी में फ़िल्म पत्रकारिता की शुरुआत (1932) दिल्ली से होती है। लेकिन इसकी छिटपुट आहट रामरखसिंह सहगल और मुंशी नवजादिक लाल श्रीवास्तव के सम्पादन में इलाहाबाद से निकलने वाले चाँद के 'नाटक तथा रंगमंच' नामक नियमित स्तम्भ में सुनाई देने लगी थी, जिसके लेखक चित्रपट सहित दीगर पत्रिकाओं में भी फ़िल्म-विषयक लेख लिख रहे थे। इनमें से सबसे नियमित लिखने वाले, असहयोग आंदोलन में जेलयाफ़ता, एडिनबरा-पलट लेखक, डॉक्टर धनीराम 'प्रेम', दरअसल थोड़े समय के लिए चाँद और भविष्य के सम्पादक भी बनते हैं, फिर मुम्बई आकर अपना दवाख़ाना खोलते हैं, लेकिन साहित्य, सिने-लेखन और सिने-पत्रकारिता से उनका जुड़ाव बना रहता है।¹⁴ डॉ. 'प्रेम' ने रणजीत मूवीटोन के लिए एक ही साल 1932 में जयंत देसाई निर्देशित दो बदमाश, भूतिया महल (Haunted House), चार चक्रम (चाण्डाल चौकड़ी / चार भोंदू / Four Rascals) और अगले ही साल भूल भुलैयाँ (Comedy of Errors), भोला शिकार (Easy Victim) तथा नंदलाल जसवंत लाल के निर्देशन में बनी परदेशी प्रीतम (Street Angels) की कहानी और गीतों का लेखन किया।¹⁵ दो बदमाश उनके नाटक प्राणेश्वरी पर आधारित फ़िल्म थी, जिसका विज्ञापन चाँद में छपा, जबकि 'मिस माधुरी के पहले सवाक चित्रपट परदेशी प्रीतम की कहानी' धनीराम 'प्रेम' की अपनी लेखनी से ही चाँद ही

¹⁴ धनीराम 'प्रेम' (1904-74) की संक्षिप्त जीवनी के लिए देखें, फ्रंचेस्का ओर्सीनी (2003) : 419. और चित्रपट, नववर्षांक 1934 : 134. दो बदमाश नामक फ़िल्म उनके नाटक प्राणेश्वरी पर आधारित थी, जिसका विज्ञापन चाँद (मार्च, 1933 : 575) में छपा. 'मिस माधुरी के पहले सवाक चित्रपट परदेशी प्रीतम' की कहानी' धनीराम प्रेम की अपनी लेखनी से ही चाँद में आयी : देखें 'फ़िल्मों की कहानियाँ', मार्च, 1933 : 544-48.

¹⁵ हरमन्दिर सिंह 'हमराज़' (1981) : खण्ड-1. 22, 24, 27, 67, 68, 91.



'सिरा-सदन' में
मिस जिचेदा नये भाव में

किस गदरे सागर के जल में मन-मनूर अभिविषय हुआ ।
किस समथ की कर्ल-मृति के पा मन मुग के रिक हुआ ?

में आयी।¹⁶ यानि एक निरंतरता बनती है एक ही रचनात्मक व्यक्तित्व की तीन अलग-अलग — गल्प-लेखक-सिनेमा-विशेषज्ञ-और सिने-लेखक — भूमिकाओं में और बतौर 'विशेषज्ञ' वह पत्र-पत्रिकाओं में लिखे अपने लेखों में लगे हाथ अपनी ही फ़िल्मों का उदाहरण दे कर उनका विज्ञापन भी तो कर ही सकता था। उसकी यह प्रचारक-भूमिका वैसे भी चौपतिया प्रचार-पुस्तिकाओं में असंदिग्ध तौर पर उभर के आती है, जिसकी आलोचना उसी ज़माने में सतीशचंद्र सिंह :

हमारे यहाँ की फ़िल्म कम्पनियाँ इस बात की परवाह नहीं करतीं कि उनके फ़िल्मों की कैसी समालोचना हो रही है। विदेशों में समालोचक...जिस फ़िल्म को बुरा कह दें, उसकी असफलता में तनिक भी संदेह नहीं...भारत में यह बात नहीं। एक कारण इसका यह भी है कि फ़िल्मों की सच्ची समालोचना होती भी नहीं। चूँकि समाचार-पत्रों में सिनेमाओं के विज्ञापन छपते हैं, अतः समाचार-पत्र वाले उन सिनेमाओं में आने

¹⁶'प्रेम' ने इसी साल आई इंदिरा एम.ए और अलादीन—II और अपराधी के कुछ गीत भी लिखे : हमराज़, हिंदी फ़िल्म गीत कोश : 136, 186-7.

वाले प्रत्येक फ़िल्म की प्रशंसा के पुल बाँध देते हैं, चाहे वह फ़िल्म कौड़ी काम का न हो।¹⁷

और आगे चलकर फ़ज़लभॉय-जैसे वितरक-निर्देशक-टिप्पणीकार ने व्यवसाय में पनपे 'हितों के टकराव' की मिसाल के रूप में की थी और फ़िल्म जाँच समिति ने भी फ़िल्मी पत्रिकाओं के ग़ैर-पेशेवराना रंग-ढंग की आलोचना की थी।¹⁸ 'प्रेम' और चाँद के सिनेमा-प्रेम के नारीवादी आयाम भी अहम थे। हिंदी प्रिंट जनपद के अपने विस्तृत अध्ययन में फ्रंचेस्का ओसीनी ने पत्रिका के इस दौर की परिवर्तनकारी भूमिका को रेखांकित करते हुए कहा है कि इसने 'स्त्री-उपयोगी साहित्य' की संकीर्ण पुरुषसत्तात्मक रिवायत को नयी स्त्री के लिए बेहतर समाज की परिकल्पना में बदला। चाँद में पुरुषों के कंधे से कंधा मिला कर प्रगति करती दुनिया-भर की महिलाओं के व्यक्तित्व और कृतित्व के सचित्र बखानों के साथ भविष्य में राष्ट्रीय आंदोलन में सत्याग्रह करने और जेल जाने वाली नेत्रियों के दुस्साहसी कारनामों और गर्वोन्नत तस्वीरों को देखने पर हमें बदलाव की चाहत का अंदाज़ा मिलने लगता है।¹⁹ गौरतलब है कि चाँद ने अपने सिनेमाई स्तम्भ के अलावा देशी-विदेशी हीरोइनों के आकर्षक पोस्टरों और जीवन-परिचय को बाइज़्जत प्रकाशित करके हिंदुस्तानी महिलाओं को अपनी पारिवारिक लक्ष्मण-रेखाओं को लाँघकर नये तरह के कर्मक्षेत्र²⁰ के चुनाव के लिए प्रेरित किया। चाँद की चर्चा के ज़रिये मैं उस बृहत्तर पर्यावरण की ओर इशारा कर रहा हूँ जहाँ सिनेमा को संजीदगी से लेने की ज़रूरत कई लेखक-सम्पादक लगभग एक-साथ महसूस कर रहे थे, जहाँ से सिनेमा पर लिखने वालों

¹⁷ 'फ़िल्म कम्पनियाँ और प्रेस' चाँद, जनवरी, 1932 : 424-425.

¹⁸ भारत सरकार, फ़िल्म एन्क्वायरी कमिटी रिपोर्ट, गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया प्रेस, नयी दिल्ली, 1951 : 174.

¹⁹ नीपा मजुमदार की परंपरा को आगे ले जाते हुए देबश्री मुखर्जी ने अपनी ताज़ा किताब (2020) में महिलाओं के इस भावनात्मक श्रम के कई आयामों का विश्लेषण किया है.

²⁰ मसलन, हीरोइन की तस्वीर के नीचे 'सुप्रसिद्ध सिनेमा-स्टार मिस जुबैदा, जिन्होंने इम्पीरियल कम्पनी की 'आलम आरा' और तथा सागर कम्पनी की 'सुभद्रा हरण' और 'मीराबाई' आदि खेलों में काम करके अच्छा नाम कमाया है' शीर्षक दिया गया. फ़रवरी, 1933 : 479. वहीं फ़िल्म डाइरेक्टर भवनानी और उनकी हीरोइन धर्मपत्नी इनाक्षी रामाराव के अलावा दो और निर्देशकों की तस्वीर भी छपी, साथ में मास्टर मोदक की अभिनय-कला की प्रशंसा. 'सुप्रसिद्ध अमेरिकन स्टार— मिस लौरेट्टा यंग' का पोस्टर अप्रैल, 1933 में छपा.

की एक अच्छी-खासी पौध न सिर्फ निकल रही थी, बल्कि सिनेमा देखने और परखने के अपने अंतर्राष्ट्रीय अनुभवों को यह बहुभाषी पौध एक साथ हिंदी-जगत और फ़िल्म-जगत से साझा कर रही थी। इस तर्जुमानी ने एक तरफ़ सिनेमा जैसे तकनीक-संकुल, आयातित और अंग्रेज़ माध्यम को स्थानीय भाषा व शब्दावली दी, तो दूसरी तरफ़ भारतीय सिनेमा पर चल रहे 'स्वदेशी' विवाद को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य दिया, जिससे स्थानीय पूर्वग्रहों से लड़ने के साथ-साथ उन्हें एक 'सार्थक' दिशा देने में फ़िल्मकारों को बेशक मदद मिली होगी।

सम्पादकीय वैचारिकी: 'अब लीं नसानी, अब न नसैहीं'!

क्या थे ये पूर्वग्रह? चित्रपट के 'सम्पादकीय विचार' पढ़ने पर उस कशमकश का अहसास हो जाता है जिससे सम्पादक गुज़र रहे थे। फ़िल्मों की तादाद और सिनेमा कम्पनियों की तेज़ रफ़्तार बढ़त से बाज़ार में ऐसी पत्रिकाओं के लिए भी जगह बन रही थी जो सिनेमा की चौंकाने वाली चलचैत्रिक गति, आवाज़ के जादू, मारधाड़ और दौड़ की लोमहर्षकता, इंद्रियोत्तेजकता, उसके मायावी सितारों के रहस्यमयी गुणों और आने वाले तमाशों के बारे में सूचना, विज्ञापन और विश्लेषण पाठकों को मुहैया करा सकें। हम जानते हैं कि शहरी जन-मन-रंजन का बड़ा बोझ अब तक पारसी नाटक उठाते आ रहे थे, और सिनेमा उसका उत्तराधिकारी था, क्योंकि वहीं से अभिनेता-अभिनेत्री, किरदार, कथानक, दिग्दर्शक, पोशाक और सेट के डिज़ाइन और अभिनय, संगीत-नृत्य और संवाद-अदायगी के अंदाज़ और शिल्प आ रहे थे। सिनेमा में काम करने वाले 'शरीफ़ घरों' के होते नहीं थे, क्योंकि यह शराफ़त का काम ही नहीं माना जाता था। हम यह भी जानते हैं कि व्यावसायिक पारसी थिएटर से पहले से ही हिंदी जगत की ठनी हुई थी और कम-से-कम नारायण प्रसाद 'बेताब' और राधेश्याम कथावाचक की आत्मकथाओं के ज़रिये हम उस तनातनी का निदर्शन कर पाते हैं।²¹ क्रिस्सा कोताह ये कि 'बेताब' ने उस इलाक़े में 'हिंदी' को प्रवेश दिलाने के लिए शाबाशी चाही थी, तो कथावाचक अपनी धर्मध्वजा के साये में

²¹ नारायण प्रसाद 'बेताब' (2002); पण्डित राधेश्याम कथावाचक (2004); कैथरीन हैन्सन (2003) : 381-405.



माँटी तानु

रागनी झायानट (मिश्रित)

— १६६६ वास गीत माया १५ १६६६ —

अवधारण—माथुरी नृगत तुम्हरी, सुप-नुप सकल
 वैबाधत ह्यरी, वैन आवत री !!

अन्तरा—त्रिशि दिन न्यून रहत मोहे लोरा,
 अथ पट्टार करी प्रभु मोरा,
 'मगन' न बहुत ही सुहावत री !!

शो: मंगलसूक्तजी सुतः
 "मगन!"

०	३	४	५
माः ऽऽ ऽऽ ऽऽ	री ऽ नू ऽऽ	र ऽ ऽ ग	तु म री ऽ
गम पद मोला नीप	ग म प पम	ग ऽ ऽ ग	म रे सा ऽ
सु ष सु ष	सा क ल गेऽ	बा ऽ ब ल	ह म री ऽ
सा सा रे रे	ग ग म षप	म ग ग ग	म रे सा ऽ
वै ऽ न न	षा ऽ ष ल	रीऽ ऽऽ ऽऽ	ऽऽ ऽऽ ऽऽ
सा ऽ ष ष	ष दी सा रे	नीरे मानी षप पयो	नीसा नरे पाली षप

(अन्तरा)

नि शि दि न	षा ऽ म र	ह ल मो दे	लो ऽ रा ऽ
प प ष प	मी ष मी मी	सा सा सा सा	मी रे सा ऽ
ष ष ष ऽ	षा ऽ र क	री ऽ प्र सु	मो ऽ रा ऽ
नी नी नी ऽ	मी ऽ ष मी	सा रे सा मी	प ऽ न ऽ
म ग म न	क लु ही सु	दा ऽ ब ल	रीऽ ऽऽ ऽऽ
सा सा ष प	म ग प प	म ग ग ग	गम षप सा रेसा

हो रहे पौराणिक नाटकों में नारी-पात्रों के प्रवेश-निषेध पर अड़े हुए थे, जबकि आगा हश्र कश्मीरी को ऐसी कोई हिचक-झिझक नहीं थी। चूँकि शुद्ध हिंदी के प्रिंट-लोकवासी अग्रणी साहित्यकार मंच्य नाटक नहीं लिख पा रहे थे, तो पारसी रंगमंच वाली बस उनसे लगभग छूट ही गयी थी।²² ऐसे में बोलपट या टॉकी की लोकप्रियता ने हिंदी-साहित्य-जगत के वैचारिक हिरावल दस्ते को एक और झटके के साथ दोराहे पर ला पटका, क्योंकि वे उसमें 'पतनशील' और 'पश्चगामी' पारसी नाट्य-संस्कृति का ही विस्तार देखते थे, जिसमें एक तरफ़ उर्दू या हिंदुस्तानी का बोलबाला था तो दूसरी तरफ़ अवांछित

²² हिन्दी नाटकों से जुड़े एक महत्वपूर्ण संकलन के लिए देखें महेश आनंद (2007).

‘शृंगारिक’ कथानकों या दृश्यों की भरमार थी। लेकिन चूँकि वे अपनी पुरानी ग़लती दुहराना नहीं चाहते थे, इसलिए उन्होंने सिनेमा का स्वागत करने और उसे अपनी शर्तों पर अपनाने का निर्णय लिया था। इसके लिए सबसे पहले तो ‘सुसंस्कृत’ हिंदी पाठकों को ही अपने पाले में लाना आवश्यक था। साहित्यिक माधुरी में छपे लेख का निर्णय साफ़ था, ‘मेरी सम्मति में तो सिनेमा लाभदायक है, और सोलह आने नहीं बल्कि सवा सोलह आने। जब तक लोभ कम न होगा, दूसरे की भलाई होना कठिन है।²³ दो साल बाद, रंगभूमि ने अपने प्रकाशन के पहले ही साल ‘सिनेमा और नाटक के विरोधियों से’ दो-टूक शब्दों में कह दिया था :

पारसी थियेट्रीकल कम्पनी तथा फ़िल्म कम्पनियों के खेलों के कारण जनता को सिनेमा तथा नाटकों से कुछ घृणा सी हो गयी है। और यही कारण है कि वृद्ध जन लड़कों को सिनेमा जाने से रोकते हैं। मास्टर लोग बचपन से ही विद्यार्थियों में घृणा भाव उत्पन्न कर देते हैं। उनकी दृष्टि में नाटक और चित्रपट की उतनी ही उपयोगिता है जितनी एक वेश्या के गाने की ... इन सब का परिणाम यही हुआ कि सज्जनों ने सिनेमा नाटकादि में जाना ही छोड़ दिया और न जाने का प्रचारारम्भ कर दिया। यदि अब कोई सिनेमा नाटक आदि देखने जाए तो उस की गिनती दुश्चरित्रों में की जाती है ... किंतु नाटकों और फ़िल्मों के प्रति इस तरह की सभ्य और सुशिक्षित जनों की उपेक्षा बहुत हानिकारक सिद्ध हुई ... नाटक और सिनेमा से जो लाभ उठाना चाहिए था, वह नहीं हुआ... सभ्य जनों को चाहिए था कि वह इन कम्पनियों का विरोध करते ताकि वह जनता के लिये सुरुचि पूर्ण सामाजिक चित्रपट निकालें ... मदन आदि कम्पनियों के खेलों के विरुद्ध जनता में आंदोलन करें। कुछ दिन पहले हमारे हिंदी साहित्य की भी ऐसी ही दशा थी। उपन्यास पढ़ना बहुत बुरा समझा जाता था। कविता गाने आदि भी हेय दृष्टि से देखे जाते थे। किंतु जब जनता ने इसे अपनाया, सुशिक्षित सभ्यों ने इस ओर ध्यान दिया तो वर्तमान साहित्य की सृष्टि हुई ... जिस तरह साहित्य पर किसी देश की उन्नति उसी भाँति नाटक और सिनेमा पर भी किसी देश के आचार-विचार तथा संस्कृति सभ्यता आदि निर्भर हैं।²⁴

²³ दादू दयाल मेहरोत्रा, ‘सिनेमा’, माधुरी, वर्ष 8, खण्ड 1, संख्या 4, नवम्बर, 1929 : 757-60. दिलचस्प है कि मुख्यधारा की साहित्यिक पत्रिका माधुरी में ‘कृषि, शिल्प और व्यवसाय’ नामक स्तंभ के अंदर यह लेख छपा था.

²⁴ ‘अपनी बात’, रंगभूमि, प्रथम वर्ष, बारहवां अंक, 22 मई 1932 : 3.

इस बेलीस सम्पादकीय में सम्पादक-द्वय लेखराम और नौतमचंद्र ने अतीत के रवैये की आलोचना करने के बाद भविष्य की बुनियादी कार्यसूची और उसे लागू करने की कार्यविधि भी थमा दी थी, जिसमें आगे चलकर अपेक्षित परिवर्धन और संशोधन का काम चित्रपट ने बखूबी किया। इतिहास बताता है कि सिनेमा में विजय-पताका फहराने की हिंदी-प्रेमियों या कार्यकर्ताओं की लालसा कई दशकों तक संतोषप्रद ढंग से फलीभूत नहीं होती है, लेकिन चित्रपट के पन्नों में सिनेमा में कलात्मक स्वदेशी-सुधार के लिए हुए इन वैचारिक संघर्षों की बानगी तो अवश्य मिलती है।

सम्पादकीय वैचारिकी पर आगे विचार करने से पहले चित्रपट के सम्पादकों और चंद्र लेखकों से मिल लेना ज़रूरी है। प्रधान सम्पादक ऋषभचरण जैन प्रेमचंद-युग के एक जाने-माने गल्प-

लेखक, रूसी और अंग्रेज़ी साहित्य के घनघोर हिंदी अनुवादक और अग्रणी प्रकाशक यूँ थे कि दिल्ली के पहले प्रकाशन-गृह 'हिंदी पुस्तक कार्यालय' की स्थापना उन्होंने की, जो चित्रपट के दौर में साहित्य मण्डल के नाम से काफ़ी प्रसार पाता है। जैन साहब ने खुद फ़िल्म-वितरण का कामकाज भी संभाला, लेकिन पराया धन (1943) के फ़्लॉप होने



HIMALAYA PICTURES

Presents

The Epic of The New Year

NAZRANA

Starring

?

Music
C. RAMCHANDRA.

Story, Dialogue & Songs
GOPAL SINGH NEPALI

Directed By

JAGDISH PANT

Produced By

LT. COL. DRONA SHUMSHER JUNG BAHADUR RANA
&
GOPAL SINGH NEPALI

For Particulars Contact:-

HIMALAYA PICTURES

97/1 GHOD BUNDER ROAD,
P. O. MALAD,
BOMBAY. (S. D.)

सेवा में—
हिमालय चित्रपट-
सादा साहित्य,
दृष्टमन्ता

और विभाजन के बाद उनका व्यवसाय डूब गया।²⁵ बतौर कहानीकार उनकी ख्याति दिल्ली की भाषा पर उनकी पकड़ से बनी थी, और बतौर प्रकाशक-सम्पादक उन्होंने जैनेंद्र कुमार, चतुरसेन शास्त्री, यशपाल और हंसकुमार तिवारी जैसे लेखकों और सियारामशरण गुप्त, द्विजेंद्र नाथ मिश्र 'निर्गुण' जैसे कवियों से

लिखवाया। प्रेमचंद से उनकी निकटता थी और बकौल वीर भारत तलवार 'सेवासदन का फ़िल्म बनना हिंदी प्रदेश में बम्बई की बाज़ारु संस्कृति के खिलाफ़ उभरे राष्ट्रीय सांस्कृतिक आंदोलन का नतीजा था ... और चित्रपट इस आंदोलन का एक महत्वपूर्ण अंग थी।' तलवार ने उनके जीवन के आखिरी सालों में ऋषभचरण जैन से लगभग विक्षिप्तवस्था के दौरान मुलाकात की थी : 'उनसे मिलना एक युग की असफलता से मिलना था; बम्बइया हिंदी फ़िल्मों के बाज़ारुपन के खिलाफ़ हिंदी बुद्धिजीवियों के संघर्ष की पराजय से मिलना था (तलवार 1994 : 180)।

²⁵ इस तरह का बहुधंधी प्रकाशन व्यवसाय अजूबा नहीं था। संगीत कार्यालय, हाथरस के अलावा, सन् 1939 में स्थापित उर्दू की अदबी-फ़िल्मी पत्रिका शमा की लम्बी पारी सदी के अंत तक चली, और 1959 से चालू इसका हिंदी संस्करण, सुषमा भी काफ़ी सफल रहा। शमा बुक हाउस, दरियागंज से कई दीगर पत्रिकाएँ भी छपती थीं, किताबें भी। इसका मुअम्मा काफ़ी मशहूर था, और कुछ समय तक तो सिनेमा की समीक्षा देने वाला एक टेलिफ़ोनी कॉल सेंटर भी शमावालों ने चलाया। देखें, रविकान्त (2016), 'भूमिका'.

अंत तो चित्रपट के सह-सम्पादक रहे कवि-सम्मेलनी मंच के लोकप्रिय और प्रिंट के मशहूर राष्ट्रीय कवि गोपाल सिंह 'नेपाली' का भी दुखद हुआ। हालाँकि उन्होंने पाँचवें-छठे दशक में कम-से-कम 300 फ़िल्मी गीत लिखे और तीन फ़िल्मों का उत्पादन-निर्देशन भी किया। आखिरी दौर के अपने निजी ख़तों में वे छंद-प्रयोगों की विविधता और बच्चन और नीरज-प्रभृति गीतकारों द्वारा अपनी 'नक़ल' की दुहाई देते हुए कितने बौने बल्कि दयनीय लगते हैं।²⁶ लेकिन नीचे के उद्धरण में 'बेताब' और कथावाचक की तरह वे भी सिनेमा में हिन्दी के प्रवेश और उसकी प्रतिष्ठा को लेकर अपने ऐतिहासिक अवदान को लेकर सजग और आश्वस्त दिखाई देते हैं:

लोग मेरे फिल्म -संसार में आने की शिकायत करते हैं, पर मात्र चालीस-पचास रुपयों पर समाचार-पत्रों में काम करके मैं कब तक पड़ा रहता! अतः जब सम्मानपूर्वक वहाँ से ऑफर आया, तो मैं ना नहीं कर सका। मैं जानता था कि सिने-संसार निहायत गंदी जगह है, वह काजल की कोठरी है, उसकी कालिख से बचाव नहीं, पर तब भी मैं गर्व के साथ कह सकता हूँ - **वहाँ मैंने हिन्दी का ही काम किया।** उस क्षेत्र में मुझसे पहले प्रेमचंद, भगवतीचरण वर्मा, अमृतलाल नागर, और उग्र भी गए थे और सब वहाँ से भाग आए, लेकिन मैं भागा नहीं, मैंने महापंडित राहुल सांकृत्यायन की प्रसिद्ध पुस्तक 'भागो नहीं, दुनिया को बदलो' को मूर्त रूप दिया। **जहाँ उर्दू का दरिया बहता था, वहाँ मैंने हिन्दी की गंगा बहाई।** मेरे जाने के पूर्व वहाँ ८५ प्रतिशत उर्दू वाले थे। वे सब हिन्दी को कोई भाषा नहीं मानते थे। **आज फ़िल्मी दुनिया के उर्दू लेखक भी हिन्दी लेखक कहलाने लगे हैं।** मेरे गीतों में सिने-गीतों की वही 'रवानी' थी। वे काफ़ी पसंद किए गए हैं। मैंने अपने गीतों में ठेठ हिन्दी शब्द दिए। (ज़ोर हमारा: परिषद-पत्रिका, गोपाल सिंह नेपाली विशेषांक, संपादकीय, पृ.6-7)



बहरहाल, नेपाली जी का बकलमखुद एक सम्पादकीय है चित्रपट में 'सिनेमा और उसका सदुपयोग' शीर्षक से जिसमें भौतिकतावादी-भोगवादी पश्चिम और दार्शनिक-आध्यात्मिक पूरब के बीच की कभी न पटने वाली खाई को रेखांकित करते हुए पश्चिम के अंधानुकरण से बचने की अपील की गयी :

इसलिए आज मानवात्मा की यह आवाज़ है कि हमारी विभूतियों ने जब हमें पैतृक-सम्पत्ति-स्वरूप 'ललित कला' दी है, तो इसका यथेष्ट रूप से सदुपयोग होना चाहिए। इस कला का आकर्षण भी कुछ ऐसा है कि हमारे ऊपर यह शीघ्र और बहुत गहरा प्रभाव डालती है। इसके द्वारा सामाजिक-राजनीतिक अवस्था मनचाहे रूप में सुधर सकती है। स्कूलों-छात्र-छात्राओं को विद्याध्ययन में सहूलियत हो सकती है। अब काफ़ी समय तक साफ़-सुथरे पर्दे में नर्तकियाँ थिरक चुकीं, गायक गला फाड़-फाड़ कर गा गये, कितनी ही जोड़ियाँ आलिंगन में आबद्ध हुईं और चुम्बन के दाग कितनों के कपोलों पर पड़े! अब तो कुछ ऐसी तैयारी होनी चाहिए कि दीन-दुनिया दोनों सुधरे। (26 जनवरी, 1934 : 12-13; ज़ोर हमारा)।

एक तो पारसी कम्पनियों और वेश्याओं की 'फ़हश' भंगिमाओं वाली फ़िल्म कम्पनियाँ और उस पर पाश्चात्य उच्छृंखलता— करेला पर नीम चढ़ा! 'अब लीं नसानी, अब न नसैहीं!' लेकिन सवाल था कि यह सुधार हो तो कैसे हो? रंगभूमि जहाँ भौंडी फ़िल्मों के खिलाफ़ सीधे जन-आंदोलन की धमकी दे रहा था, वहीं किंचित शालीन चित्रपट एक अतिनाटकीय शाप देता है : 'जब हम अपने-माताओं-पिताओं और छोटे-छोटे बच्चों को किसी के नग्न रूप पर इठलाते हुए देखते हैं, तो हृदय में बड़ी चोट पहुँचती है ...अरी वासना इस संसार में अपनी मदमाती मटकी से तू जो कर और करा दे, वह बहुत थोड़ा है!' लेकिन शाप कलयुग में काम कहाँ करता है? बहरहाल एक ख़बर आती है लाहौर से कि वहाँ किसी 'सिनेमा सुधार संघ' का गठन हुआ है, जिसने सिनेमा के साथ अलग से 'विशेष नृत्य' दिखाने की रिवायत को चुनौती देने का निश्चय किया है।²⁷ चित्रपट को इसका संतोष है, और वह उसे अच्छी फ़िल्मों को प्रोत्साहित करने के साथ-साथ बुरी के खिलाफ़ लामबंदी करने की सलाह देता है, 'खेल दिखलाए जाने के पहले ही 'संघ' को

²⁷ पत्रिका में अन्यत्र छपे लेखों और विज्ञापनों से पता चलता है कि फ़िल्म शो के दौरान मुजरानुमा विशेष नृत्य का अतिरिक्त आकर्षण सिनेमा-हॉल के मालिक परोसा करते थे.

उसके रंग-रूप, भावना तथा प्रभाव का निरीक्षण करना चाहिए। जहाँ कहीं भी उसे अपने उद्देश्यानुसार आपत्ति हो, उस स्थल को निकाल डालने के लिए शक्ति-भर प्रयत्न करना चाहिए। फिर भी यदि उसके सद्परामर्श से लाभ नहीं उठाया गया, तो अमोघ अस्त्र 'विरोध' है ही।'²⁸ यानि चित्रपट भी अंततः जनतांत्रिक या नागरिक संगठन के ज़रिये सेंसरशिप की हिमायत करता नज़र आ रहा है : चाहता है कि इस संघ की शाखा-प्रशाखाएँ देश-भर में खुलें। इसकी मिसाल भी उसी सम्पादकीय के एक और हिस्से में ही मिल जाती है, जिसमें 'मूक जनता' से न सिर्फ़ 'क्रियाशील' बनने की अपील की गयी है, बल्कि उनकी सक्रियता का सुखद परिणाम भी सामने आया बताया जाता है। लाले-यमन नामक फ़िल्म की मुस्लिम नेता शौकत अली और अफ़ग़ान कौंसिल ने मुक्त कंठ से तारीफ़ की थी, और खुद चित्रपट ने उस प्रशंसा को विज्ञापन के हिस्से के रूप छपा था।²⁹ 'लेकिन इसके कई स्थल हिंदू-हमारी जनता को पसंद नहीं आये, और फलस्वरूप इसके विरोध में हमें उनकी कई चिट्ठियाँ मिलीं। हमने अपना परम कर्तव्य समझकर यथाशीघ्र इसके संचालकों से इस सम्बंध में निवेदन किया। अब इस बातचीत के फलस्वरूप दिल्ली में इसका प्रदर्शन बंद कर दिया गया है और प्रांत के बाहर भी इसका प्रदर्शन संशोधित रूप में होगा।' ऐसी एकजुटता-जन्य सक्रिय सत्याग्रह की सफलता पर चित्रपट ने संतुष्ट होकर सिलेक्ट पिक्चर्स और मैजेस्टिक टॉकीज़ को धन्यवाद दिया और पाठकों से कहा, 'अगर हमारी जनता निष्क्रियता छोड़ेगी तभी हम अपने सिनेमा को बाज़ार से उठाकर कला बना पाएँगे। न मालूम हमारे दर्शकों ने अपने सम्मान का स्थान 'चवन्नी' के 'टॉर्च' दिखलाने वालों के लिए क्यों रख छोड़ा है?'³⁰ इसी तरह सिनेमाघरों से ढेर-सारे मुफ़्त का 'पास' माँगने वाले सहधर्मी पत्रों के व्यवहार पर शर्मसार होते हुए चित्रपट ने मध्यमार्ग की सलाह दी : 'आप किसी भले आदमी से 'पास' माँगिए, पर एक सीमा के भीतर!'³¹ नेपाली और

²⁸ इस संघ की सदस्यता का मासिक और वार्षिक शुल्क क्रमशः चार और आठ आने थे।

²⁹ विस्तार के लिए देखें, रोज़ी टॉमस (2011). उनके अनुसार लाल-ए-यमन (1933) नामक सफल फ़िल्म एक अलग तरह की मुस्लिम फ़ंतासी धारा का प्रतिनिधित्व करती थी।

³⁰ 'मूक जनता', सम्पादकीय विचार, 9 फ़रवरी, 1934 : 2-3.

³¹ 'सिनेमा पास', सम्पादकीय विचार, 5 जनवरी, 1934 : 12-13.

जैन का चित्रपट सिनेमा-रूपी चाँद को समाज, राजनीति और शिक्षा के महत्तर और बृहत्तर साध्यों को साधने का ज्योतिपुंज बनाना चाहता था, लेकिन पहले अनपढ़ रिवायतों का ग्रहण तो कटे, सिने-आकाश से अनपढ़, लालची और मुनाफ़ाख़ोर तत्त्वों का कब्ज़ा तो हटे!

स्तम्भ-सूची ने हलचल मचा दी !
लोग चकित होकर आपस में पूछते हैं,
क्या



चित्रपट

का
मासिक संस्करण ऐसी अपूर्व वस्तु सिद्ध होगा ?
निश्चय ही:
हम जो कहते हैं, कर में दिया देते हैं।
क्या आप जयते हैं—
मासिक-चित्रपट में किनके लिखने की सम्भावना है ?
सर्वथी हुन्शी मेघचन्द, विश्वम्भरभाय शर्मा, 'कौशिक' 'सुदर्शन', चतुरसेन शास्त्री, जैनेन्द्रकुमार, सुकुमार चटोपाध्याय, गजानन्द शर्मा एम० ए०, बीरेन्द्र सिंह, जयशङ्कर 'पूसाद', सुविश्वानन्दन पन्त, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', जगद्वरप्रसाद 'हिन्दी-कोविद', गोपालसिंह नेचाली,—आदि-आदि ।
पहला अंक
१ मार्च को प्रकाशित होगा
स्तम्भ-सूची याद रखिये—

१—कालचुर [सद्विचारकोषी]	१०—कबीरी [साहित्य-समालोचना]
२—बदायी [बच कोटि की कहानियाँ]	११—स्वयं शरीर [स्वतन्त्रकोषी]
३—जलवीच भास [देवी दाम लक्ष्मी]	१२—सर्वीर
४—यज्ञकार [संसार के बहीन अविचारों का परिचय]	१३—साहित्य-संग्रह [साहित्यिक चर्चा]
५—धारासाक्षिक उपन्यास	१४—दूरदूरी [विद्यार्थ रसिक-सङ्घ]
६—सङ्क-सङ्घ [राष्ट्रीय विचार-धारा]	१५—वीथ [साकोरकोषी]
७—चकित संसार [विवेका-उपन्यासी]	

चित्रपट

उन्नति-पथ पर
केवल नौ मास में
सात हजार अपने लगा ।

'चित्रपट' के पाठकों को यह जानकर हर्ष होगा, कि 'चित्रपट' की दिन-दुनी, रात-चाँदुनी उन्नति से उत्साहित होकर उसके सम्बालकों ने उसकी लेख-सामग्री में अधिक उन्नति करने का निश्चय कर लिया है । पाठकगण अब उसमें निपमित रूप से सर्वथी आचार्य चतुरसेन शास्त्री, डॉक्टर धनीराम 'मेघ', सुकुमार चटोपाध्याय, वैद्यराज गजानन्द शर्मा एम. ए., नाटककार नरपदासदाद खरे, पण्डित विनोदशङ्कर व्यास—आदि सुलेखकों की रचनाओं का स्वाद पायेंगे ।

साथ ही

पत्र के सम्पादकीय परामल, चिन्तों के सङ्कलन और पृष्ठ-संख्या में अभिवृद्धि करने का भी आयेजन किया जा रहा है ।

हमें विश्वास है, कि भारत में
'चित्रपट' अपने विषय का सर्वोत्तम साप्ताहिक सिद्ध होगा ।
विज्ञापन-रेट फिर बढ़नेवाले हैं ।

[चित्रपट के अपने इश्तिहार]

फ़िल्म-कला सैद्धांतिकी: यथार्थवादी आग्रह

अब तक थोड़ा अंदाज़ा हो गया होगा कि चित्रपट को किस तरह की फ़िल्में स्वीकार्य नहीं थीं। जिस पिटी-पिटाई, लीक पर 'फ़ॉर्मूलानुमा' फ़िल्में बनाई जा रही थीं, वे सब की सब ठस्स और बासी थीं, क्योंकि किसी में भी 'कर्ममय दैनिक जीवन का कोई आभास नहीं', बल्कि

विलासिता की वही रंग-रेलियाँ, वही बौंगा गायन-नर्तन, वही कथानक-शैथिल्य और वही डाइरेक्शन!... 'डाकू की लड़की' में हमने देखा; हादी को पकड़ के कारागार में डाल दिया गया, परन्तु वहाँ हादी ने ज़रा भी गंभीरता नहीं दिखाई और चिल्ला-चिल्लाकर ख़ूब गाने गाये। 'भोला शिकार' में दीक्षित... 'ओवर-एक्टिंग' करता है। 'यहूदी की लड़की' में यहूदी इतना अस्वाभाविक क्रंदन करता है कि वहाँ 'करुण' रस के बदले वीभत्स का संचार हो उठता है। किसी भी खेल में नायक-नायिकायें सुबह से शाम तक वही वस्त्र धारण किये रहती हैं। वही बासी भाव-भंगी, वही पुराना प्रेम-संचालन! सैरन्ध्री में कीचक के शयन-गृह में सैरन्ध्री सुरा पात्र लेकर आती है; कीचक ऐसा विलासी जीव वहाँ भी 'आउटडोर' वस्त्र में मौजूद है; एक विलासी के शयन-गृह, राज-दरबार और युद्ध-क्षेत्र में कोई भी अंतर नहीं। रात का समय है, महल में प्रहरी पहरे पर खड़ा है; पर उसके अंग में, गति में कोई ऐसा आलस्य-भाव नहीं।³²

यानि वाचाल सिनेमा के आरम्भ में ही एक तरह की स्वाभाविकता की अपेक्षा की जा रही थी, कह सकते हैं कि विश्वसनीयता के नये प्रतिमान गढ़े जा रहे थे। पर्दे पर एक ऐसा अभिनय दिखे जिसमें आडंबर न हो, अलंकरण न हो, अतिरंजना न हो; गीत-संगीत, देहभाषा, लिबास आदि देशकाल और मूड के मुताबिक हों, न कि तर्क और तुक के बग़ैर — हर जगह, हर तरफ़, यकसाँ! गाने 4-5 ही होने चाहिए।³³ 'आउटडोर' और 'इन्डोर' की पोशाक वैसे ही अलग होगी जैसे पहरेदार की क्लांत चाल-ढाल दिन में चुस्त और रात में

³² 'काश कोई ऐसी फ़िल्म बनती', सम्पादकीय विचार, 19 जनवरी, 1934 : 10-11.

³³ देखें, 'परख : रंगीला राजपूत', चित्रपट, 16 फ़रवरी, 1934 : 16-17; हालाँकि गानों में भारतीय फ़िल्मों की आत्मा बसती है, और उन्हीं से उनकी अस्मिता भी बनती है, लेकिन बार-बार की जा रही गीतों की तादाद और मौक़े-बेमौक़े की आलोचना का असर इस दौर में होता तो ज़रूर है क्योंकि हर फ़िल्म इंदर सभा तो हरगिज़ नहीं थी. भले ही 1931-1940 के बीच 9 हज़ार फ़िल्मी गाने बने. फ़िल्मवार गानों की सूची के लिए देखें, हरमंदिर सिंह 'हमराज़' (1981) : खण्ड 1-6, कानपुर. ये मुख्तलिफ़ मसला है कि आलोचक अपना राग कभी बंद नहीं करते : जब 4-5 गाने रह गये तब भी नहीं!

सुस्त होगी। चाँद के सिने-समीक्षक सतीशचंद्र सिंह के स्वदेशी अहं को एक दफ़ा करारा धक्का लगा था जब इलाहाबाद में उनके साथ मदन कम्पनी की 'भारतीय बालक' देखने गयीं अमेरिका में रहने वाली उनकी अर्ध-भारतीय महिला दोस्त बीच में फ़िल्म छोड़कर उठ गयी थीं, क्योंकि गोली खाकर गिरने वाला अभिनेता कुछ यूँ आराम से गिर रहा था कि उसे चोट न लग जाए! फ़िल्मों में ढेर-सारे गानों के आयोजन की आदत से पहले से हीन-भाव-ग्रस्त समीक्षक ने निष्कर्ष दिया, 'एक भारतीय फ़िल्म को देखकर जितना क्षोभ मुझे उस दिन हुआ, उतना और कभी नहीं हुआ था'।³⁴ इस तरह की आधुनिक स्वाभाविकता और संयत कलात्मकता की अपेक्षा का स्रोत ज़ाहिर है कि वैसा साहित्य भी रहा होगा, जो ऋषभचरण जैन और उनके प्रेमचंद-जैसे समकालीन लेखक रच रहे थे। हम यह भी जानते हैं कि जीवन-जैसी कला रचने के आग्रह के शाश्वत मानदण्ड नहीं होते। मिसाल के तौर पर जिस मेलोड्रमैटिक सिनेमा को पश्चिम में 'रोंदू-रूदाली' या 'वीपीज़' कहा गया, उसी के बारे में आगे चलकर राय ये बनी कि यही फ़िल्में तो अश्वेत-जन और महिलाएँ खास चाव से देखा करती थीं। बहरहाल हमें चित्रपट के उसी सम्पादकीय पर थोड़ा और टिकना चाहिए ताकि इस दौर में आर्ट की परिभाषा साफ़ हो :

ऐसी स्थिति में कोई ऐसी फ़िल्म बने, जो स्थल-स्थल पर 'आर्ट' का पुट लिए पूर्णतः स्वाभाविक हो...पौ फटते ही मानव-प्राणी का अलसाये हुए उठना; सुख की निद्रा का मधुर मोह; लक्ष-लक्ष लोगों का कर्म-भूमि की ओर प्रस्थान; कर्म में लीन नर-नारियों की आत्म-विस्मृति और सहकारिता की भावनायें; अखिल सृष्टि को भूलकर वे घर की, परिजनों की, सन्तति की सुधि; उदर-पूर्ति की योजनाओं में संलग्न मनुष्य मात्र का दयनीय चित्र; जनसामान्य के वायुमण्डल में उड़ते द्वेष के कीटाणु, अपना सुंदर संसार बसाने के लिए इस हाड़-मांस के ढाँचे का अनुपम उद्योग; ज़रा-ज़रा सी बातों की हृदय पर गहरी ठेस; पतली-पतली उँगलियों से निर्मित घास-फूस की कच्ची कुटी और उसके चारों ओर माया-ममता का झीना-झीना अविच्छिन्न जाल— अपने सरल रूप में ये दृश्य यदि हमको सिनेमा में देखने को मिलें, तो न मालूम ये आविष्कार मानव-समाज का कितना कल्याण करें। लोग भूल जाएँ कि हम कुछ पैसे देकर सिनेमा देख रहे हैं; पतन की ओर बढ़ते हुए रास्ते में ही हमें सुधार के यथेष्ट अवसर मिलें...फ़िल्म में कोई राजा

³⁴ 'मदन कम्पनी के बोलते हुए फ़िल्म', चाँद, जनवरी, 1932 : 425.

नहीं, कोई रानी नहीं, कोई सेनापति नहीं और न कोई फ़ौज। सर्वत्र हमीं-आप जैसे जन एक-दूसरे की भली-बुरी भावनाओं से प्रभावित होकर संसार में रह रहे हैं। (ज़ोर हमारा)

उद्धरण में ऊपरी हिस्से की रुमानी कविताई के असर से ज़ेहनी तौर पर आज़ाद होने के बाद फ़िल्म्स डिवीज़न के वृत्तचित्रों की बेसाख़्ता याद आ जाती है। सवाल यह भी है कि ये हमीं-आप कौन हैं? यह भी पूछा जा सकता है कि चित्रपट के सम्पादकीय की भाषा दैनंदिन जीवन में कौन इस्तेमाल करता है? और उम्मीद की जा रही है कि जीवन जैसा है, वैसा ही उसका चित्रण भी किया जाए। सिनेमा को समाज का दर्पण बनाने का आग्रह। धार्मिक फ़िल्मों की सीधी आलोचना करने का साहस तो चित्रपट में नहीं था, लेकिन सामाजिक का समर्थन है, बल्कि वृत्तचित्र का भी खाका बनता दिखाई देता है। लेकिन 'हमारी हिंदू जनता' से एक तरह का दो-फाड़ हो रहा है, लोकवृत्त में। सवाल यह भी है कि ये सम्पादक नये दर्शक की माँग कर रहे थे, या नयी फ़िल्मों की?

सिने-जगत में महिला-प्रवेश का कँटीला प्रश्न

हम जानते हैं कि कई बेतुकी सामाजिक बाड़ाबंदियाँ और पर्दादारियाँ रायज़ थीं पिछली सदी के चौथे दशक में, कि गाँधी अगर 'हरिजनों' के मंदिर-प्रवेश की मुहिम चलाकर ब्राह्मणों से पिटकर भी अपने सत्याग्रह पर क़ायम थे तो दूसरी तरफ़ चाँद और भविष्य राष्ट्रीय जनांदोलन, आधुनिक शिक्षा, नौकरी और खेल-कूद के साथ-साथ³⁵ नाटक और सिनेमा में अछूतों और महिलाओं के प्रवेश को प्रोत्साहन दे रहे थे और इसके लिए भारतीय इतिहास और संस्कृति से लेकर आधुनिक व्यावहारिकता की कसौटी तक के हर तरह के तर्क जुटा रहे थे, यहाँ तक कि अपना 'अमोघ' राष्ट्रवादी तर्क भी :

मूँछ-दाढ़ी मुड़ाए, स्त्री-भेष में पुरुषों का रंगभूमि में आना अत्यंत हास्यास्पद तथा कला की दृष्टि से अपमानजनक है...कदापि हितकर नहीं हो सकता। यह कार्य धीरे-धीरे उसकी पुरुषोचित भावनाओं को कुचल कर अन्त में उसके पुरुषत्व पर आघात करता

³⁵ सविनय अवज्ञा आंदोलन के दौर के भविष्य की उपलब्ध फ़ाइलों से गुज़रना विश्वास, साहस और दृढ़ता की सचित्र-साकार महिलाओं से रूबरू होना है। भविष्य की चंद फ़ाइलें प्रियंवद जी ने हमें उपलब्ध कराईं, जो चेतन पांडेय की कृपा से स्कैन होकर अब आर्काइव.ऑर्ग के मुक्त जनपद में उपलब्ध हैं।

और उसे पुंसत्वहीन कर डालता है। इस समय देश को स्वस्थ पुरुषत्व एवं स्त्रीत्व की आवश्यकता है। राष्ट्र-हित का ध्यान रखते हुए पुरुष को स्त्री का पार्ट खेलने की आज्ञा देना अनुचित है। और लोग...खराब समझकर...स्त्रियों को वहाँ दर्शक या अभिनेत्री किसी भी रूप में नहीं जाने देना चाहते। लेकिन स्त्रियों को इस प्रकार बंद रखने का परिणाम क्या हो रहा है? उनकी शक्तियाँ अविकसित रहकर, नष्ट हो रही हैं...क्या यह आवश्यक नहीं कि हमारी देवियाँ नाट्य-मंदिर में अपने योग्य स्थान पर सिंहासनासीन हों?³⁶

चाँद का यह रुख राधेश्याम कथावाचक के रवैये से बिल्कुल उलट है। कला की इस दुनिया को बदनाम और अपवित्र मानते हुए भी महिलाओं को इस समाज में उनकी वाजिब प्रतिष्ठा दिलाने के लिए ये पत्र उनकी सफलता की मिसालों का सचित्र जश्न मना रहे थे, और उन्हें बतौर आदर्श पेश कर रहे थे। लेकिन देवी-योग्य नाट्य-स्थान बन भी पाया था सिने-जगत अब तक? नग्नता या चुंबनादि के साक्षात् फ़िल्मी दृश्यों और अफ़वाहों के अलावा गाहे-बगाहे स्कैंडलों की पुष्ट ख़बरें भी आती रहती थीं। इनमें से एक मिसाल तो हमें हास्यास्पद लग सकती है लेकिन रंगभूमि ने इसे अपनी सम्पादकीय नज़रे-इनायत बख़्शी, लिहाज़ा आपकी नज़र करता हूँ। हुआ यूँ कि बम्बई के एक बड़े घर से आने वाली मिस नलिनी तरखुद ने एक फ़िल्म की शूटिंग करते हुए अपने सह-अभिनेता के लिए 'प्रिय, प्राणप्रिय' आदि संबोधन इस्तेमाल करने से इन्कार करके सेट पर संकट पैदा कर दिया। रंगभूमि ने कहा कि ये तो नवइयत है— मूक सिनेमा में तो ऐसी नौबत ही न आती! फिर, 'किसी भी उच्च घराने की स्त्री इस प्रकार पति के सिवाय अन्य पुरुष को सम्बोधन कर सकेगी इस में हमें संदेह है फिर भी कला की दृष्टि से कलाकार को यह सम्बोधन कहना अनुचित नहीं। हमें आशा है कि नलिनी तरखुद स्वयं ही इस कठिनाई को दूर कर देंगी। बीसवीं शताब्दी के अंदर इन विचारों का आना हमारी प्राचीन संकीर्णता का परिचायक है।'³⁷ इसी तरह चित्रपट के एक साहित्यिक-से लगते उपनाम वाले पाठक ने एक दो-तीन फ़िल्म पुरानी अभिनेत्री बहन श्यामा जुत्शी के नाम— जिसने भवनानी के स्टूडियो के 'अशुद्ध वातावरण' के खिलाफ़ विरोध दर्ज करते हुए फ़िल्म लाइन छोड़ देने का ऐलान किया था — खुला ख़त लिखकर यह सलाह दी थी, 'चूँकि आप अकेली क्रांति

³⁶ 'रंगमंच पर स्त्रियों का स्थान' चाँद, मार्च 1930 : 877-80.

³⁷ 'अपनी बात', रंगभूमि, 1 जनवरी, 1932 : 3.

पैदा नहीं कर सकती”, अतः जब तक यहाँ का माहौल पाक नहीं हो जाता आप-जैसी ‘भद्र कुमारियों’ का आना ठीक नहीं।³⁸

चित्रपट के प्रधान सम्पादक ने खत छापने की दिलचस्प कैफ़ियत भी दी:

... कि फ़िल्म-क्षेत्र में प्रवेश करने की इच्छुक शिक्षित युवतियाँ उस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करें। इसमें सन्देह नहीं, कि **भारतीय स्टुडिओ में सामान्य वेश्याओं का आधिपत्य देखकर हमें क्लेश होता है**, और हम शीघ्र-से शीघ्र भारतीय फ़िल्मों को इस महाकलंक से विमुक्त देखने को व्याकुल हैं, पर हमारी ग़ैरत यह कभी गवारा नहीं कर सकती कि हमारी बहनें यौवन-सुलभ उत्साह के वशवर्तिनी होकर बिना सोचे-समझे इस पापाग्नि में प्रवेश करने के पूर्व वे उसके वातावरण का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लें, और देख लें, कि वहाँ उनके निष्कलंक चरित्र पर कोई धब्बा लगने की सम्भावना तो नहीं है। हमें हर्ष है, कि भारतवर्ष में ‘न्यू थियेटर्स’ और



‘प्रभात’ ऐसी दो कम्पनियाँ उत्पन्न हो गयी हैं, जिनमें प्रवेश करने के लिए हम इन बहनों से सिफ़ारिश कर सकते हैं।

³⁸ केदार नाथ मिश्र ‘केदार’, ‘कुमारी श्यामा जुत्शी के नाम पर खुली चिट्ठी’, चित्रपट नववर्षांक, 1934 : 132-33.



'आरपीरा' में मिस माचुरी
 इस सीन में पीगार्ड का कुत्ता भोज कराते
 इस सीन में माचुरी-कुत्ते पर चित्रित होते



मिस उमाश्री

आज की सर्वश्रेष्ठ अभिनेत्री
 सिनेमा 'दिलके-मन्दाकिनी' में अपने कलापूर्ण अभिनय द्वारा

अजीब पसोपेश और असमंजस की स्थिति है न सिर्फ़ इन पत्रिकाओं के लिए, जिनका दाना-पानी सिनेमा से चलता है, बल्कि पूरे समाज के लिए कि इस दुनिया में जाने के लिए अभी तक सिर्फ़ दो ही वर्ग की महिलाएँ तैयार हैं: ऐसी जिनका पेशा पहले से प्रदर्शनकारी रहा है, यानि तवायफ़ों का या फिर ऐसी उच्च घराने की महिलाएँ, जिन्हें लोकापवाद से फ़र्क़ नहीं पड़ता। पहले वर्ग की पतनशील अभिनेत्रियों के लिए हमारे



'सती अनुमया'-नामक चित्रपट का एक दृश्य ।

अनुमया से सती-धर्म की महिमा का आदर्श मिला,
नज्जिन हुए देवता सब भूमण्डल और आकाश दिखा ।

'सत्यवादी चित्रपट हाउस', दिल्ली ।

सम्पादकों के पास न अच्छे शब्द हैं, न सदिच्छा है और न ही शुभकामनाएँ, अपितु घृणा कूट-कूट कर भरी है! दूसरे वर्ग में

ऐसी गैर-हिंदी-भाषी महिलाएँ भी आती थीं, जिनकी संवाद-अदायगी में उच्चारण-दोष आम था। दुर्गा खोटे तो अपवाद ही थीं तब तक और आने वाले एकाध दशक तक!³⁹ संयोग नहीं कि नीपा मजुमदार ने महिला स्टारडम पर लिखी अपनी किताब 'वॉन्टेड कल्चर्ड लेडीज़ ओन्ली' का नाम 1943 के फ़िल्मइंडिया के एक विज्ञापन से लिया है और आवरण पर दुर्गा खोटे की अमर ज्योति की एक तस्वीर डाली है, जहाज़ी लड़ाकू की वेशभूषा में। उन्होंने फ़िल्मइंडिया और फ़िल्मलैंड सहित अंग्रेज़ी की कई पत्रिकाओं के

³⁹ दुर्गाबाई खोटे की प्रशंसात्मक जीवनी के लिए देखें, श्री 'कुमार'-लिखित जीवन-पट, चित्रपट, 12 जनवरी, 1934 : 26-27.

अलावा रंगभूमि का भी इस्तेमाल किया है यह बताने के लिए कि उस समय भला, भद्र, शिक्षित, अमीर ये सब अमूमन समानार्थी अल्फ़ाज़ थे, यानि वर्ग और सांस्कृतिक स्थिति में एक नैसर्गिक समीकरण मान्य था। अभिनेत्रियों के नाम के आगे मिस/मिसेज़ लगाकर या बाद में डिग्रियाँ जोड़कर उन्हें अतिरिक्त आदरणीय बनाकर पेश किया जाता था। यह उस मध्यवर्ग के आदर्शों का ही प्रतिरूपण था, जिसके प्रतिनिधि चित्रपट के सम्पादकगण थे। पार्थी चटर्जी(1994) की मशहूर तरकीब कि राष्ट्रवादी बुद्धिजीवियों ने उन्नीसवीं सदी से ही पश्चिमी (भौतिकतावादी) और पूर्वी (आध्यात्मिक) जीवन-पद्धतियों में फ़र्क़ किया, आपने लक्ष्य किया होगा, गोपाल सिंह नेपाली के उपरोक्त सम्पादकीय में भी द्रष्टव्य है। आगे वे बताते हैं कि महिलाओं को राष्ट्रवादी विमर्श में उस अंतःपुर या गर्भगृह का अंतेवासी और आध्यात्मिकता का सुरक्षित पुंज बताया गया जो अभी भी 'बाहरी' अथवा पाश्चात्य भ्रष्ट आचारों से अछूता, अविजित और पवित्र है इसलिए राष्ट्रीय नवजागरण की धुरी या प्रेरणा बनने की पात्रता रखता है। सिनेमा की दुनिया तो बाह्य के भी नितांत बाहरी दायरे पर टिकी थी, जहाँ पारम्परिक, सामंती पतनशीलता और अय्याशी का आधुनिक, पाश्चात्य प्रभावों से सहज-गँदला संगम हो रहा था। राष्ट्र के बुद्धिजीवियों की नज़र में सिनेमा की दुनिया तो वैसे ही भ्रष्ट और अय्याश पुरुषों तथा वेश्याओं का अड्डा थी, जिनसे निजात पाए बिना शिक्षाप्रद और स्वस्थ फ़िल्में नहीं बन सकती थीं।

इस प्रसंग में चित्रपट के घोषित तौर पर परस्पर-पूरक दो सम्पादकीय गौरतलब हैं, जो सिनेमा से जुड़ी व्यावसायिक पत्रिका के भौतिक धरातल और नैतिक असमंजस को बख़ूबी बयान करते हैं, और कुछ बारीक व्यावहारिक विकल्प भी पेश करते हैं : पहला, 'फ़िल्मों में बहन-बेटियों का प्रवेश' और दूसरा, 'फ़िल्म ने हमें क्या दिया'। पहले सम्पादकीय में उन लोगों की ख़बर ली गयी है, जो इस सिद्धांत के क्रायल हैं कि अभिनय में ख़ास तरह के भाव-भंगिमा-अदाओं और कटाक्ष-चितवन की ज़रूरत होती है, जो वेश्याओं को ख़ून, माहौल और विरसे में सहज ही हासिल है। ऋषभचरण जैन पूछते हैं कि ऐसी फ़िल्में ही क्यों बनाई जाएँ, जिनमें मानवीय दुर्गुणों को उभरने का मौक़ा मिले? हमें बस राजरानी मीरा और **एशिया का प्रकाश** जैसी फ़िल्में चाहिएँ। इतने-भर से सिनेमा के कामलोलुप संसार में 'हमारी दूध-घोई, फूल-सी' बेटियाँ सुरक्षित नहीं हो जातीं, लेकिन

‘फ़िल्मों के स्वर्ण-वाटिका में वेश्याओं की चहचहाहट’ नाकाबिले-बर्दाश्त है, और उनके हाथों में हमारी संतान का भविष्य बंधक है, इसलिए हमें शिक्षिता कन्याओं या महिलाओं को लाना होगा। चूँकि यह बदलाव अचानक नहीं हो सकता, लिहाज़ा एक चरणबद्ध योजना तजवीज़ की जाती है:

1. आरम्भ में ऐसे दम्पति इस क्षेत्र में प्रवेश करें, जो समान रूप से शिक्षित, समझदार तथा इस लाइन में प्रवेश पाने के लिए लालायित और योग्य हों।
2. स्वयं डाइरेक्टर या कम्पनी के मालिक योग्य और सच्चरित्र अभिनेताओं के साथ, हो सके, तो अपने परिवार के साथ, अपनी माँ-बहिन-स्त्रियों को भेजें। इससे अभिनेत्रियों के प्रति उनके दृष्टिकोण में अंतर आयेगा, तथा वे स्टूडियो के वातावरण की उच्छृंखलता को दूर करने की ओर विशेष प्रयत्नशील होंगे।
3. फ़िल्मों के कथानक ऐसे चुने जाएँ, जिनमें मुख्य पात्र या पात्री के मुख से न तो कोई अश्लील संवाद कहलवाया जाए, और न कोई अभद्र चेष्टा कराई जाए। यदि आरम्भ में आर्थिक हानि की आशंका अधिक सताये, तो बीच-बीच में नृत्य आदि के अवसर पर किसी वेश्या को अतिरिक्त रूप में बुलवा लिया जाए, तथा ऐसे दृश्यों में मुख्य भूमिका में कार्य करने वाली उच्च घराने की कन्याओं या महिलाओं के आने का निषेध हो। लोक-रुचि कुछ ही परिष्कृत होते ही वेश्याओं का इतना सम्पर्क भी फ़िल्मों से एकदम दूर कर देना चाहिए।
4. केवल प्रेमी-प्रेमिकाओं के वियोग, रोमांच [romance] और मिलन की भित्ति पर प्रायः एक ही ढाँचे की कहानियाँ गढ़ने के स्थान पर उच्च कोटि के धार्मिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, शिक्षा-संबंधी तथा खेल-कूद विषयक फ़िल्म तैयार किये जाएँ; स्त्रियों के अभिनय का यथा-साध्य अभाव करने की ओर प्रयत्नशील हुआ जाए।⁴⁰

यानि मसला, गुहार या नारा सिर्फ़ ‘वॉन्टेड कल्चर्ड लेडीज़ ओन्ली’ का नहीं था, बल्कि उन भद्र महिलाओं के लिए भी प्रवेश की शर्तें थीं। पति-पत्नी का एकल परिवार या पारिवारिक व्यवसाय वह आवश्यक छत्रछाया या कवच होगा जहाँ कोमलांगी कुमारियों को सांस्थानिक हिफ़ाज़त मुहैया कराई जाएगी। इस सुरक्षा-चक्रव्यूह के हरेक चक्र में

⁴⁰ सम्पादकीय विचार : ‘फ़िल्मों में बहन-बेटियों का प्रवेश’, चित्रपट, 15 दिसम्बर, 1933 : 12-13.

पारिवारिक निगहबानी और संरक्षण का प्रावधान और कुछ इस तरह का श्रम-विभाजन किया गया, जो दशकों तक भारतीय सिनेमा में एक तरह की रूढ़ि बनकर क़ायम रहा : **भद्र महिलाएँ भद्र माहौल में सिर्फ़ भद्र भूमिकाएँ करेंगी**। इसकी एक ठोस मिसाल भी मिलती है उसी समय से : जब सरोजिनी नायडू की बहन सुनालिनी देवी एक ऐतिहासिक फ़िल्म वीर कुणाल (1932) में सम्राट अशोक के दरबार में नृत्य पेश करती हैं तो हिंदी बुद्धिजीवी हाय-तौबा मचा देते हैं कि फ़िल्म को इतने बाइज़ज़त ख़ानदान की कन्या लेने से प्रचार में फ़ायदा तो मिला, लेकिन अग्रणी राष्ट्रीय नेता की ख़ास बहन (!) से ऐसा 'आयटम' नंबर करवाना शोभा नहीं देता! इससे जनता में भ्रम फैलता है।⁴¹ तो ठर्रा यही बना कि नादिरा, हेलेन, शशिकला और बिंदु जैसी अभिनेत्रियाँ खलनायिका के तौर पर टाइपकास्ट हो गयीं : उनकी पोशाक पश्चिमी होती थी, वे क्लबों में नाचती-गाती थीं, और नायक को लुभाने-पटाने की उत्तेजक कोशिशें करती थीं, लेकिन उनका अंत किसी खलनायक के बुलेट के रास्ते में आ जाने से हो जाता था।⁴² यानि एक तीर में कई सांस्कृतिक शिकार हो जाते थे, सुखान्त में कितनी पारिवारिक मर्यादाएँ ढहने से रह जाती थीं। कहा जा सकता है कि तजवीज़ के तौर पर यह चित्रपट के प्रधान संपादक का ऐसा अद्भुत ब्राह्मणवादी समाधान था जिसमें बनिये की व्यवहारकुशलता का चतुर पुट था — **जिस जगह से परिवार को ख़तरा पेश आ रहा हो, उसे ही पारिवारिक बना दो** : किस्सा ख़त्म। कई कहानियाँ तस्दीक़ करती हैं कि आने वाले दौर में कम-से-कम फ़िल्मी

⁴¹ धनीराम 'प्रेम', 'भारतीय सिनेमा', सरस्वती, भाग 1, खण्ड 1, जनवरी, 1933 : 103-12.

⁴² ख़्वाजा अहमद अब्बास (2011) ने ऐसी ही खलनायिका का चित्रण अपनी कहानी 'दो चेहरे' में किया, जो उनके बेहतरीन अफ़साने, (अनु.) एम. नदीम, में संगृहीत है. देखें, : 83-92.

नायिकाओं के असली जीवन पर तो उनके परिवार वालों की निगहबानी और बहुत हद

चित्रपट



मिस नुबेदा

'मेरा-पदल' नामक चित्रपट में
 अद्भुत भवन, अद्भुत दर-वन, अद्भुत यौन, अद्भुत कर्म।
 अस्मि ! इय अस्मि योवन वर, अस्मि, ईश्वर दे, ओ अस्मि अस्मि।

चित्रपट



मिस सुभावाला

तक हुक्मरानी कायम ही रही।

बहरहाल, प्रधान संपादक को यह भी लगा कि फ़िल्मी दुनिया की उनकी आलोचना कुछ ज़्यादा तीखी हो गयी थी, तो उन्होंने ग़लती सुधारते हुए एक और संपादकीय लिखा जिसमें सिनेमा के एके-बाद-दीगरे छह फ़ायदे भी गिनाए :

1. एक ऐसे निर्धन देश में जहाँ ज़्यादातर धनिक बैठे-बैठे सूद का पैसा खाते हैं, फ़िल्म-व्यवसाय ने हज़ारों-लाखों लोगों को रोज़गार दिया है।

2. सिनेमा के आने से कई चरित्रहीन, कोठे पर या थिएटर में जाकर मुजरा सुनने वाले पुरुषों को अपनी इच्छापूर्ति का अपेक्षाकृत सस्ता साधन मिल गया है।

3. कुछ समय पहले तक जब विदेशी फ़िल्मों का दौर-दौरा था तो देश का लाखों-करोड़ों रुपया विदेशी पूँजीपतियों के पेट में समा जाता था। अब देश का पैसा सिंधु और बम्बई के इस पार रहकर चक्कर काटता रहता है।

4. फ़िल्म के द्वारा हमें अपने ऐतिहासिक और पौराणिक अतीत का गौरव प्रकट करने की कला हाथ लग गयी, सामाजिक समस्याओं को सुलझाने का साधन मिल गया और आगामी सन्तान को बहुत-सी उपयोगी बातें बताने का सुयोग प्राप्त हो गया।...इस वर्ष के कुछ अच्छे चित्रपटों की प्रगति देखकर हमें विश्वास है, कि निकट भविष्य में इस कला का सम्पूर्ण सदुपयोग किया जाने लगेगा।

5. अपने देश के महान लेखकों की कृतियाँ अधिक आकर्षक, सुन्दर और प्रभावशाली ढंग से सुलभ करने का उपाय हो गया।...अब तक भेड़ियाधसान चलती रही...लक्षणों से प्रकट होता है कि आगामी वर्ष उन्नतिशील सिद्ध होगा।

6. सब से अन्त में फ़िल्मों द्वारा जो एक महत्वपूर्ण लाभ हुआ है— वह है राष्ट्र-भाषा का प्रचार। भारतवर्ष के अधिकांश चित्रपट आज हिंदी के माध्यम पर तैयार किए जाते हैं। इस हिंदी की भाषा यद्यपि सर्वांगीण रूप से शुद्ध नहीं होती, तोभी फ़िल्मों में हिंदी का वर्तमान रूप सन्तोषजनक है, और परोक्ष रूप से राष्ट्रभाषा के प्रचार का इतना प्रबल कार्य फ़िल्म के द्वारा हो रहा है, जो हिंदी साहित्य सम्मेलन, हिन्दू महासभा अथवा राष्ट्रीय महासभा के वर्षों के सम्मिलित प्रयत्नों से भी न होता।

क्या ही अच्छा हो...यदि इस व्यवसाय को सभी विचार के लोगों के लिए वन्दनीय बना दिया जाय, और हमारे लिए यह सम्भव हो सके, कि हम प्रत्येक फ़िल्म को माँ, बहन और अपनी सन्तान को निस्संकोच भाव से दिखा सकें!⁴³ (ज़ोर हमारा)

ज़ाहिर है कि सिनेमा एक अभिनव साधन है जिससे कई स्वदेशी काज पूरे हो सकते हैं, हो रहे हैं— रोज़गार-सृजन हुआ है, धन का विदेशी दिशा में बहाव रुका है और इतिहास-पुराण के सम्यक फ़िल्म-निर्माण से जन-कल्याण होगा, ऐसी संपादक को उम्मीद है। एक चीज़ जो परिवार की ज़द से छूट रही थी कि फ़िल्म देखने का माहौल भी पारिवारिक हो, यहाँ आ गयी, और आने बाद इस आदर्श का वर्चस्व हमारे मानस पर हाल-हाल तक

⁴³ सम्पादकीय विचार : 'फ़िल्म ने हमें क्या दिया', चित्रपट, 29 दिसम्बर, 1933 : 12-13.

रहा है या अब भी है, यह सोचकर जैन साहब की दूरदेशी की दाद देनी पड़ती है कि फ़िल्म के अच्छे होने की ऐसी स्थायी कसौटी का सृजन उन्होंने किया। पाँचवें बिंदु पर प्रेमचंद और सेवासदन के फ़िल्मांतरण से जागती उम्मीदें हैं कि सिनेमा सत्साहित्यानुरागी और सत्साहित्यानुगामी बनेगा। लेकिन सिनेमा और हिंदी भाषा को लेकर तो वाकई वे दूर की ऐसी कौड़ी लेकर आए, जिसमें पैबस्त हकीकत को स्वीकारने में हिंदी के हिमायतियों को कई दशक लगे। रविशंकर शुक्ल-जैसे हिंदी-कार्यकर्ता जो चौथे और पाँचवें दशक में सिनेमा और रेडियो-जैसे प्रतिष्ठानों पर फहराते 'उर्दू' या 'खराब हिंदी' का झंडा उखाड़कर शुद्ध हिंदी का परचम फहराना चाहते थे, उनके अतिवादी दृष्टिकोण से कहीं उदार था चित्रपट का संपादकीय दृष्टिकोण, कि इसमें चाँद ही की तरह उर्दू शायरों की 'सटीक' शायरी को बाइज़ज़त छापा जाता था। दिलचस्प है यह भी नोट करना कि सातवें दशक की माधुरी हिंदी की सिनेमाई प्रगति से क़तई मुतमइन नहीं थी और इसीलिए उसने 'भाषा-भारती' नामक संगठन और अपनी समीक्षाओं में मुसलसल टोका-टाकी करके अंग्रेज़ी



'सेवा-सदन' में मिस जुवेदा

चित्रपट पत्रिका और चित्रपट दल, संत-संग संगीतभार
धीरे-धीरे सत्साहित्य से भागा मिलने शुरू हुआ

क्रेडिट या नामावली की नागरी से प्रतिस्थापना की पुरशोर और पुरजोर मुहिम चलाई, और कुछेक मध्यधारा के फ़िल्मकारों पर उसका असर भी हुआ था। क्रिस्सा कोताह यह कि हिंग्लिश सिनेमा के अपने ज़माने में हम चित्रपट के लालबुझक्कड़-पूर्वानुमान और 'हिंदू-हिंदी-हिंदुस्तान'-घोषिणी नामी-गिरामी संस्थाओं के मुक्काबले सिनेमा के भाषाई प्रसार के महत्तर योगदान की संतुष्ट स्वीकृति पर रीझ सकते हैं।

विस्मयादिबोधक सिने-विज्ञापन!

परदेपर चलता फिरता तमाशा दिखाने वाली वायस्कोप मशीन
आप बंकार क्यों हैं? देखिये—दौलत का पेड़ सामने है

परि आप बेकार हैं तो मन पलताइये देखिये—दौलत का पेड़ आपके सामने है सबसे करके बडिये और मन बांझित धन प्राप्त कीजिये। परदे पर चलता फिरता तमाशा दिखाने वाली मशीन, जिसे हिन्दीमें वायस्कोप और अङ्गरेजीमें 'विंध्या' कहते हैं। आपको बेकारीको दूर कर मनबांझित धन देगी। इसक मुकाबले कोई व्यापार है ही नहीं। इस मशीन के जरिये देहात या शहर में २ घण्टे तमाशा दिखाकर २) से २५) रोज तक पैदा कर सकते हैं। मशीनके साथ फिल्म जिनमे तीन तमाशे होते हैं तथा आवश्यक सामान और बिधि पत्र मुफ्त भेजा जाता है। मन बहालाच के लिये छोटी ८) १०) १५) २५) तमाशा दिखाकर रुपये पैदा करने वाली बड़ी मशीन ५०) ८०) १००) २००) से १५००) तक।

मात बंगाले का पता— डी एशियाटिक ट्रेडिंग कम्पनी पोस्ट बक्स ६७२० कलकत्ता



परचे का यह खण्ड अपेक्षाकृत अधिक चित्रात्मक होगा, चूँकि शब्दों में अनिर्वचनीय ये विज्ञापन देखते हुए पढ़ने से त'आल्लुक रखते हैं। और चूँकि हमारी हर कहानी चाँद से शुरू हुई है, इसलिए यह भी सिनेमा-संबंधी एक अद्भुत विज्ञापन को पढ़ने से हो रही है जिसमें एक नयी प्रौद्योगिकी से पैदा उछाह और अवसर दोनों ही भावों को अल्फ़ाज़ में बयान

करने की कोशिश की गयी है।⁴⁴ 'दौलत का पेड़' पौराणिक कल्पतरु का हिंदुस्तानी अनुवाद है, और 'तमाशा' सिनेमा का। ऐसा लगता है कि 'बायस्कोप' अब तक हिंदी में पचा लिया गया है। 'टूअरिंग टॉकीज़' नाम तो बाद में ही आया होगा, क्योंकि यह बात सन उनतीस की है और व्यापारिक नज़रिये से यह विज्ञापन कितना अगमजानी सिद्ध होता है!

चित्रपट के चिर-परिचित लेखक-समीक्षक, वैद्यरत्न श्री गजानंद शर्मा एम. ए., ने फ़िल्म-व्यवसाय के संबंध में कई विचित्र बातें — ऐसे मानो-या-न-मानो-लेकिन-सच-है टाइप के तथ्य जिन्हें बाद में फ़िल्म अध्ययन में 'ट्रिविया' कहा गया — बताईं, जिनमें से एक दिलचस्प है, 'अमेरिका तथा इंग्लैंड से प्रकाशित होने वाले सिनेमा-पत्र, फ़िल्म-कंपनियों तथा प्रदर्शन-गृहों के विज्ञापन से नहीं चलते। कदाचित् किसी पत्र को ही एकाध-पेज का मिल जाता हो, वरना अधिकतर ऐसे विज्ञापनों से ख़ाली रहते हैं। उन देशों में सिनेमा-साप्ताहिक-पत्र साबुन, घड़ी, बाजे, तेल, खिज़ाब, वस्त्र और दवाइयों के विज्ञापन से लदे रहते हैं।'⁴⁵(ज़ोर हमारा)

उद्धरण का आज के संदर्भ में तर्जुमा करके कहें तो उस समय के विलायती सिनेमा पत्र अमिताभ बच्चन थे! लक्स साबुन और वैश्विक तथा स्थानीय सिने-सितारों के बीच के वैज्ञापनिक रिश्तों के अपने बा-तसावीर अध्ययन में सबीना गडिहोक ने बताया है कि इस ब्रैंड ने पहले हॉलीवुड की तारिकाओं का उपयोग किया फिर भारतीय अदाकाराओं का इस्तेमाल 1941 में शुरू किया, और लीला चिटनिस और मीना कुमारी से लेकर हेमा मालिनी से लेकर शाहरुख़ ख़ान तक, यानि पाँचवें से लेकर नवें दशक तक अमूमन हर बड़ी नायिका (और एकमात्र नायक!) के लिए गोया यह विज्ञापन इज़्ज़त-अफ़ज़ाई का पैमाना बन गया। पहले चित्रकार के हाथों बने चित्रों का इस्तेमाल होता था, जबकि बाद में कैमरे से खींची सफ़ेद-स्याह और फिर रंगीन फ़ोटुओं का। इस लेख के दौर में हिंदुस्तानी सिनेमा सितारों की आम-बाज़ार-मूल्यवत्ता और बाकी चीज़ें बेच पाने की उनकी क्षमता

⁴⁴ चाँद, वर्ष 7, खण्ड 1 फ़रवरी, 1929.

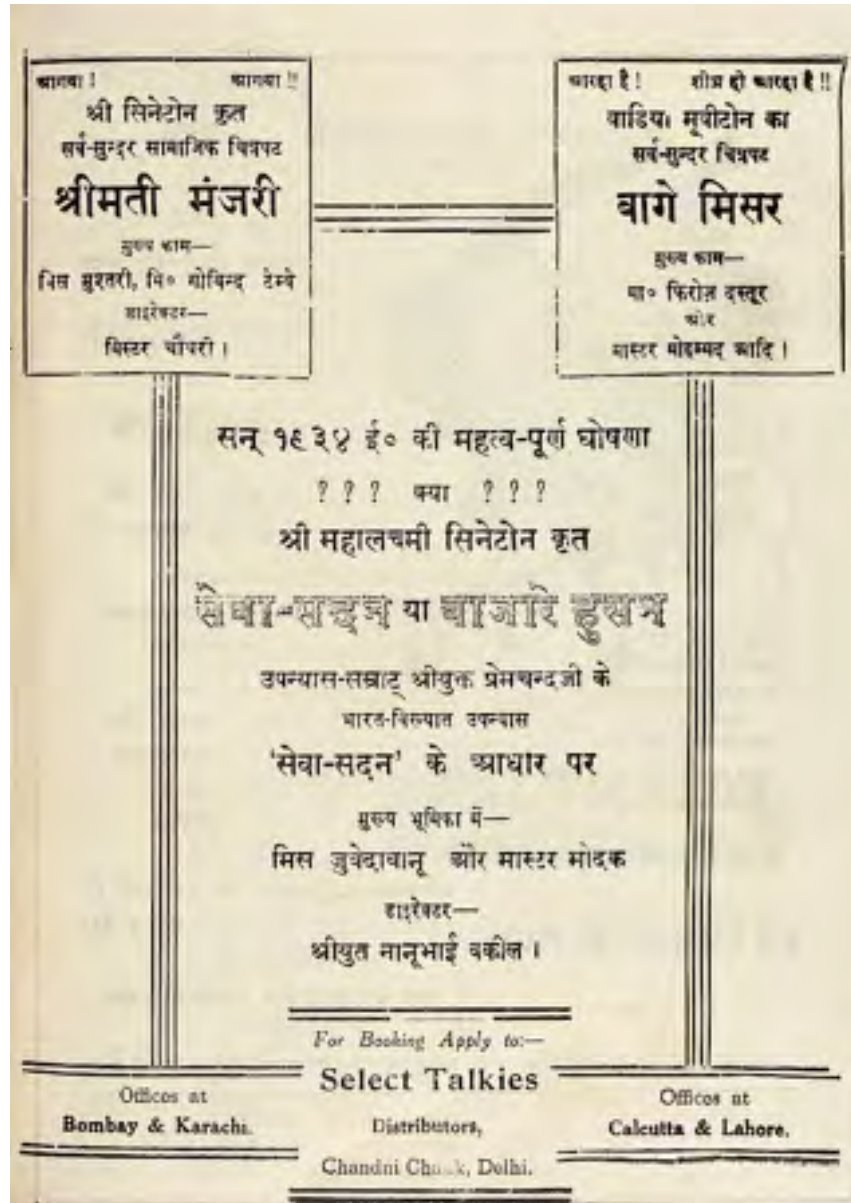
⁴⁵ चित्रपट, 9 फ़रवरी, 1934 : 10.

के लिहाज़ से इस मुकाम तक नहीं पहुँचा था। अपने नए आयकॉन-सहित फ़िलवक्रत सिनेमा खुद को ही बेच रहा था, इसलिए चित्रपट में छपे ज़्यादातर विज्ञापन सिनेमा-व्यवसाय से ही त'आल्लुक रखते थे। अंतिम उत्पाद यानि बनी हुई फ़िल्म के अलावा निर्माण, ध्वन्यांकन, सिनेमैटोग्रफ़ी, वितरण, प्रदर्शन और प्रक्षेपण से जुड़े यंत्र ग़रज़ कि सिनेमाघर तक सिने-व्यवसाय से जुड़ी पूरी तकनीकी शृंखला विज्ञापनीय थी। चूँकि बाक़ी कारोबार उसी पर मुनहसर था, लिहाज़ा सबसे ज़्यादा आकर्षक बनाने के चक्कर में बेहतरीन नवाचार भी तैयार फ़िल्म के प्रचार में ही दिखाई देता है। दोनों में फ़र्क़ तो था ही, लेकिन बहुत जल्द समीक्षा की शब्दावली तेज़ी से चीला बदलकर फ़िल्म को बेचने का औज़ार बन जाती थी। एक और अहम मुद्दा तस्वीर बनाम तस्वीर के मुक़ाबले का है। अपने संपादकीय की तरह चित्रपट यहाँ भी एक ख़ास तरह की सामाजिक-पारिवारिक नैतिकता को तरज़ीह देते हुए अपने व्यावसायिक हितों को पूरी तरह ओझल भी होने नहीं देता।

इस समय तक फ़िल्म-व्यापार की अलग पत्रिका की अवधारणा नहीं विकसित हुई थी, इसलिए एक ही विज्ञापन में तमाम वर्गों को सम्बोधित किया जाता था, ज़्यादातर तो बेनामी संदर्भ के यह कहते हुए कि 'जिसने देखा वाह-वाह! या अश-अश कर उठा!' तो कई बार उनके नाम लेकर। धर्म और समुदाय के नाम पर कभी-कभार अपील की जाती



थी, यानि 'हिंदू सोशल' और 'मुस्लिम सोशल' नामक विधाओं की नींव डाली⁴⁶ जा रही थी : 'अगर आप सामाजिक फ़िल्म देखने के शौकीन हैं, अपने सिनेमा को भले दर्शकों से भरना चाहते हैं, घर की महिलाओं को ऊँची शिक्षा देना चाहते हैं तो औरत का दिल अवश्य देखिये।⁴⁷ बहुधा फ़िल्म को बार-बार और सपरिवार देखने की अपील की जाती थी। गण्यमान्य लोगों और नेताओं और कभी-कभार सितारों की सचित्र अनुशंसा खुद पत्रिका और फ़िल्म के प्रचारार्थ छापी जा रही थी। अगर किसी गायिका का नाम है, मसलन अगर मिस बिब्बो की ख्याति दिल्ली में थी, तो दिल्ली के दर्शकों को शहर का वास्ता दिया जाता था ताकि बाकी दर्शकों को भी उसकी पहले से स्थापित प्रसिद्धि का एहसास हो जाय : 'इसमें मिस बिब्बो के ऐसे मधुर गायनों का समावेश किया गया है, जो दिल्ली की जनता के कानों में सदा गूँजते



⁴⁷ चित्रपट, 2 फ़रवरी, 1934.



मिस मोती

'एजेण्ट' नामक चित्रपट में

गलों की पसंदीली हलकाली तुम सारं ।
गुनर, गुनर, लालीनी मारकाली मीम सारं ।



मिस गौहर करनाटकी

भारत सिनेटोन की चित्रपट -मिनेत्री

रहते हैं।⁴⁸ मिस दुलारी ग्रामोफोन की मशहूर गायिका थी तो ये बात लोगों को याद दिलाई जाती थी। विशेषणों का एक खास तर्ज था : गौहर को 'सिनेमा की रानी' कहा गया तो मिस पद्मा को 'बंगाल की बुलबुल'।

प्रत्यक्ष विज्ञापन के अलावा कई परोक्ष तरीके थे : चित्रपट में 'सिनेमा-समाचार' और 'दिल्ली के सिनेमा-समाचार' नामक दोनों स्तंभ व्यापार-खबरों की शकल में विज्ञापन भी तो थे। निर्माता/वितरक/प्रदर्शक के बीच सिनेमा की खरीद-फ़रोख़्त-संबंधी बातचीत, चूँकि इसमें वक़्त लगता था, इसलिए रीलों के परिवहन का साप्ताहिक आँखों देखा हाल, प्रदर्शन किस हफ़्ते कैसा चल रहा है, उसकी ख़बरें; ऐसा लगता था कि पोस्टरों की टाइमिंग फ़िल्मों की टाइमिंग से मिलाई जाती थी, गोया कोई समझौता हो सिने-

⁴⁸ देखें, एजेण्टा सिनेटोन का विज्ञापन, चित्रपट, 29 जनवरी 1934 : 3. 'एजेण्टा', ज़ाहिर है, 'अजन्ता' का अंग्रेज़ी भ्रष्ट रूप है!

निर्माताओं और प्रदर्शकों से कि विज्ञापनों के लिए अतिरिक्त जगह पैदा की जाएगी। 'बेभावकी' नामक सामयिक स्तंभ में मुंशी चप्पलदास के चुटीले शब्दजाल भी अक्सर उन्हीं फ़िल्मों के नामों या चरित्रों के इर्द-गिर्द बुने जाते थे, जिनमें कुछ रसीली चुटकियाँ भी ली जाती थीं। लेकिन जिसे हम आज की ज़बान में गॉसिप कहेंगे, उसके लिए तो 'बुरा न मानो होली है' जैसे सामाजिक अपवादकाल में निकलने वाले 'होलिकांक' को ही देखना पड़ेगा, उसमें भी निर्माता-निर्देशकों-अभिनेताओं-अभिनेत्रियों के बारे में गप्प इतने अविश्वसनीय तौर पर निरापद होते थे जैसे कि बाद की धर्मयुग-साप्ताहिक हिंदुस्तान आदि

सभी चीज़ें बेजोड़ हैं !
जो देखता है, वाह-वाह कर उठता है !
फ़िल्म क्या है, सिनेमा-घरों की सफलता है !!

बासबद्धस्ता

रङ्गीला राजभूत

भाया जाल

क्षेरे शरिहस्तान

एक सर्वांगीण मौलिक और कोमल भावनाओं से परिपूर्ण कथानक पर तैयार किया गया फ़िल्म। जिसमें मास्टर निसार, मिस बिन्दो, मिस शाहवादी और मा० जयराज की मुख्य भूमिका है।

—❦❦❦—

मिस बिन्दो वह बीच साक्षित हुई है, जिसने सेल में पैर रखने ही अपनी गायन-शमता का पिका जमा दिया है। उसी ने इसमें मुख्य काम किया है।

मिस पर मास्टर निसार और अब्दुलरहमान फ़ाबुली ने तो सोने में सुगन्ध का काम किया है।

—❦❦❦—

इसकी सफलता का तो यही उदाहरण काफी है, कि तैयार होने ही, इसे दिल्ली में गैंगवा गया। इसमें मिस बिन्दो के ऐसे मधुर गायनों का समावेश किया गया है, जो दिल्ली की जनता के कानों में सदा गूँजते रहते हैं। इसके अतिरिक्त मिस लुबेदा की यद्द मिस शाहवादी और मि० भूखो अरुवानी का अभिनय तो बस कमाल है ! इसमें भी मास्टर निसार हैं।

—❦❦❦—

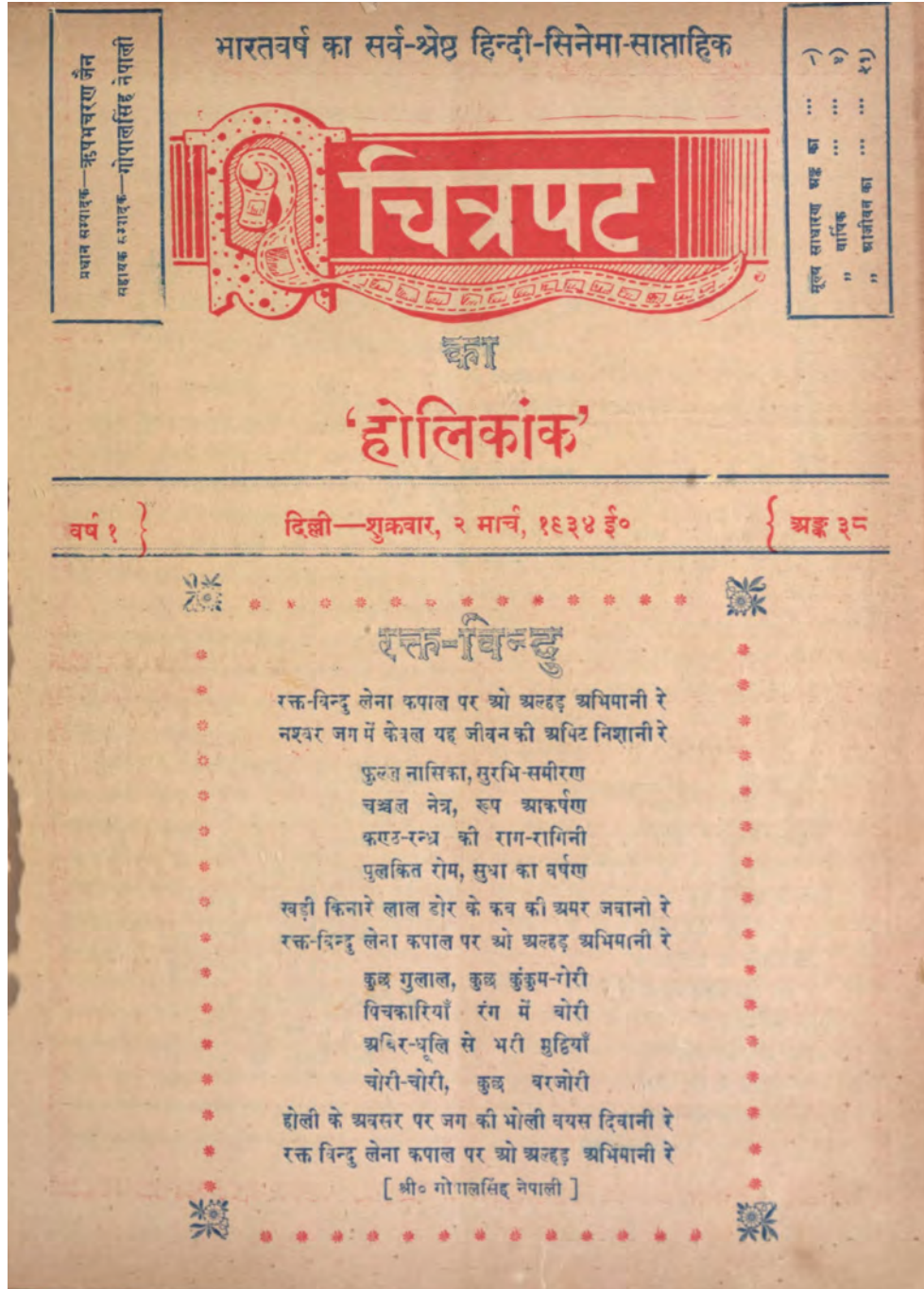
इस अनोखी बीच का परिचय देखने पर ही मिलेगा। आगले मास के आरम्भ में यहाँ आया जाता है।

सिनेमा संचालको,
एजेण्टा सिनेटोन कम्पनी लिमिटेड
की इन कृतियों को शीघ्र ही बुक कीजिये।

Produced by
Ajanta Cine-tone Ltd.
Parel, Bombay

Distributors
MAHAVEER TALKIE DISTRIBUTORS
Chandni Chowk-DELHI.

साहित्यिक पत्रिकाओं के होली-विशेषांकों में कवि-कवयित्रियों के बीच गुलाबी-सी छींटाकशी के बारे में पढ़ रहे हों! चित्रपट-जैसी पत्रिकाएँ होलिकांक छापा ही करती थीं, जिनमें संस्कारों से छेड़छाड़ का अवकाश होता था, मध्यवर्गीय संस्कृति की पतंगों में मुख्तसर से वक्रफ्रे के लिए अतिरिक्त ढील दी जाती थी।



इसमें कोई शक नहीं कि विज्ञापनों की साज-सज्जा की अतिरिक्त कोशिश की जाती थी। किताबों की सजावट में स्थापत्य का दृश्य-व्याकरण काफ़ी समय से चला आ रहा था — आवरण सहित हर पृष्ठ को एक घर मानकर तोरण-द्वार से लेकर कलात्मक चौखट और फूल-पत्ते या दीगर प्रतीकों वाले बॉर्डर आदि बनाए जाते थे, लेकिन शब्दों की सत्ता सार्वभौम और सर्वोच्च थी। अंदर दाखिल होकर पन्ने पलटने पर पहली नज़र में ही स्पष्ट हो जाता है कि हम सिनेमा-विज्ञापन के विराम-चिह्न युग में जी रहे हैं। एक सीधापन है

CHITRAPAT, CINEMA WEEKLY Price 1 Anna Regd. No. L 3208

कुमार सुवीटोन का पहला सवाक् चित्रपट
इस वर्ष की एक श्रेष्ठ कृति

मस्त फकीर

इस चित्रपट में

मिस मोतो, भारत की प्रसिद्ध अभिनेत्री
मास्टर शिराज़, फ़िल्म-जगत का अद्वितीय नृत्यक
मास्टर इस्माइल
मिस गुलशन, प्रसिद्ध गान-विद्या-विशारदा
इब्राहीम, कोहेनूर फ़िल्म-कम्पनी का प्रसिद्ध अभिनेता
तथा

मिस विमला आदि अभिनय कर रहे हैं।
और साथ ही

मनसूर तथा ज़ली, हास्य-रस के अभिनेता भी।

कदापी—एच० जी० त्रिवे०
एपरेटर—टी० एन मर्चंट
पीरोपायी—बी० एम० व्यास
रिवायिंड—के० बी० देसाई
सूचक का—भा० दामोदर दास

यह चित्रपट सुन्दर दृश्यों की खान है।
त्याग का ज्वलन्त उदाहरण है।
देश-भक्ति का जीता चित्र है।

For Booking Apply to—
JAIN TALKIES,
DELHI

संप्रेषण में जो पदों से शरीर में और शरीर से अभिव्यक्तियों में स्थानांतरित करने की चेष्टा में विस्मयसिक्त शब्दों और विस्मयादिबोधक अलामतों का इस्तेमाल करता है।⁴⁹

आ रहे हैं !

‘भारत लक्ष्मी पिक्चर्स’ के

तीन अद्भुत सवाक् चित्रपट !

<p>दानवीरता, पितृ भक्ति, मातृप्रेम, करुण और प्रेम रस से भरपूर कलामय पौराणिक चित्रपट भक्त के भगवान स्टोरी. सीनरियो, डायरेक्शन गुंजाल हायलाग और गाने कविवर “गुलाब” और द्रुपदराय मुख्य पात्र—पत्रिचौ दादाभाई सरकारी, अहीन्द्र चौधरी, कपूर, द्रुपद, श्यामसुन्दर, देवबाला, शाह- झादी, बालनट दामोदर आदि</p>	<p>लौमहर्षक ! मनोरंजक !! शिवाप्रद सवाक् चित्र इन्साफ़ की तोप मास्टर विट्ठलदास पांचोटिया की जादू भरी लेखनी द्वारा चित्रित और सञ्चालित । रोमाञ्चकारी घटनाओं से परिपूर्ण समाज का जीता जागता चित्र वीर शृंगार एवं हास्य रस की त्रिवेणी का अपूर्व सङ्गम । चुने चुनाये नाट्य कला कुशल सुविख्यात पात्रों का अनूठा सम्मेलन</p>
<p>रामायण लेखक— हिन्दी के सुप्रसिद्ध गल्पकार श्री सुदर्शन डायरेक्शन श्री सुदर्शन और श्री प्रफुल्लराय</p>	<p>—ॐॐ मुख्य पात्र ॐॐ— सर्व श्री० डी० डी० सरकारी, दुर्लभराम, भोलाशंकर, विट्ठलदास पांचोटिया, कृष्णराज कपूर, आर० पी० कपूर, विजय शूकर, अबदुल्ला कालुली इत्यादि । —ॐॐ मुख्य पात्री ॐॐ— मिस राजकुमारी, देवबाला, इन्दुबाला, राजलक्ष्मी, कुसुमरानी, इत्यादि ।</p>

बुकिंग के लिये लिखिये—

भारत लक्ष्मी पिक्चर्स, टालीगंज कलकत्ता ।

इन चिह्नों का अतिरंजित इस्तेमाल शब्दों में छुपे स्वरों को उभारने की कोशिश का नतीजा लगता था — गोया कॉपी तैयार करने वाला, जो अक्सर सिनेमा कम्पनी का लेखक ही होता था, अपने छपे शब्दों से कह रहा हो : तुम कब बीलोगे, अब तो फ़िल्में भी बीलने लगीं! रफ़्तार या मारधाड़ की उत्तेजना हो या आध्यात्मिक आनंद, सामाजिक उपादेयता या

⁴⁹ अगर उस समय के साहित्यकारों से तुलना की जाय तो गौरतलब है कि रामबृक्ष बेनीपुरी और राजा राधिकारमण प्रसाद की भाषा में ऐसी ही चित्रात्मक ध्वन्यात्मकता पाई जाती है.

शीत और ग्रीष्म की गङ्गा-जमनी ऋतु में
रंगीला राजपूत
 अजब सज-धज के साथ आरम्भ होगया !
 एजेण्टा सिनेटोन की विख्यात कृति
 यही अपूर्व बोलपट

जिसकी पत्नीया दिहरी के दर्शक हृदय पकड़कर कर रहे थे, जिसकी सुलभ भूमिका में मास्टर निहार और मास्टर अन्दुलरमान फ़ावुली का दर्शनीय अभिनय है, जिसके आधार पर फोकिला-बग्ठी बिन्दो ने अपनी पतिमा का बयारकार दिखाया है, जिसके दारुपेक्षण में बि० भवनानी ने एही-बोटी का पत्नीमा एक कर दिया है, आप को चकित करने के लिये

आजिरकार दिल्ली में आ पहुँचा ।
 शीतल बयानक सुनिये—

राजपूत प्रताप घटनाबश कुछ स्थानावरोधों में आ मिलना है। बलजीत-नामक एक कुचकी राजकुमारी सुशीला का अन्तरण करके जङ्गल में लिये जाता है, जहाँ प्रताप उसकी रक्षा करता है। बलजीत के बदकन्य से महारानी बनोरया सर्प-दंशन के कारण मर जाती है। उसी समय प्रताप सुशीला को लेकर आता है, पर बलजीत की पूर्वता के कारण फ़ैद कर लिया जाता है।

अन्त में

-४-	प्रताप को कैसे छुटकारा मिला ?	१-४-
-४-	प्रताप और सुशीला का क्या अन्त हुआ ?	१-४-
-४-	बलजीत को किये का क्या फल मिला ?	१-४-

यह आप

दैनिक तीन खेळ ३ बजे, ६ बजे, ९ बजे	मैजेस्टिक सिनेमा निकट प्र.ज्वारा दिल्ली में आकर देखें।	टिकट की दर पूर्ववत् है।
--------------------------------------	---	----------------------------

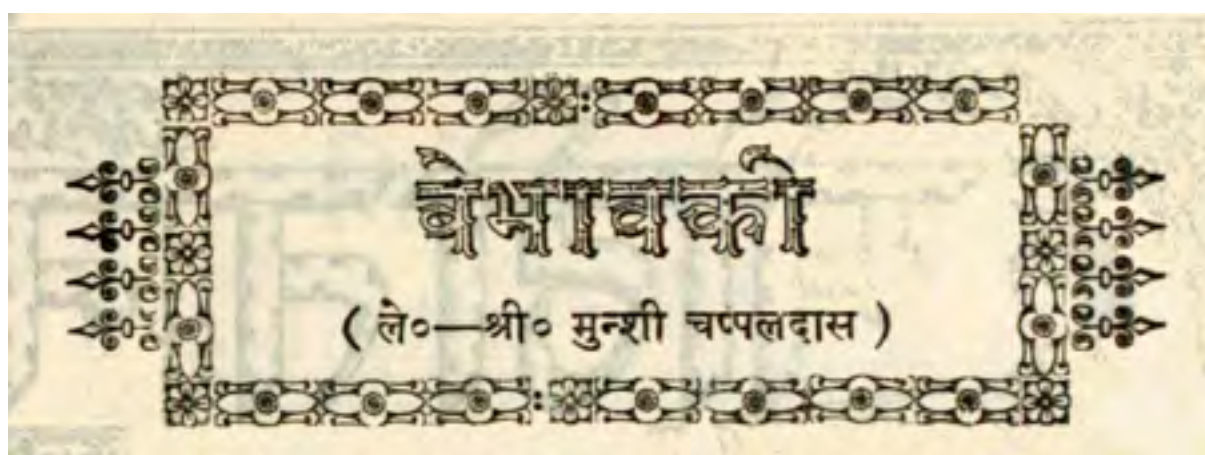
Released by—
MAHA VEER TALKIE
 DISTRIBUTORS Chandni Chowk DELHI.

सूचक, अन्तरण की अपरमत्तय कैम के किये 'कल-बायी लिटिङ हाउस', दिल्ली में बना ।

शैक्षणिक उपदेशात्मकता— इन सबका बखान करने में शब्द एक के बाद एक रेलमपेल, या मिस्र के सीधे या उल्टे पिरामिड की शकल में एक के ऊपर एक या फिर जापानी शैली में ऊपर से नीचे स्तंभाकार हुलिये में तर-ऊपर चढ़े आते हैं। ब्लॉक छपाई के ज़माने में अक्षरों की छपाई लेखन के ढर्रे पर कम छपाई के चैत्रिक डिज़ाइन से ज़्यादा प्रेरित थी, इसलिए लिपि की गति क्षैतिज या लंबवत किसी दिशा में हो सकती थी। पाठकों की नज़रों को लुभाने के लिए बाज़ार में फ़ाउन्ड्री से 'नये टाइप के स्टॉक प्रेस के लिए' आते रहते थे, फ़ॉन्ट जिन्हें 'टाइपफ़ेस' कहा जाता था। लब्बेलुआब ये कि सुलेखन या किताबत के तमाम आजमूदा गुरों में इज़ाफ़त की जा रही थी। फिर भी यह साफ़ हो जाता है कि देवनागरी का सुलेखन इस दौर में उर्दू का वह वैभव हासिल नहीं कर पाता, जो मुसव्विर

जैसी पत्रिका या पाँचैक साल बाद शुरु शमा के पत्रों में दिखाई देता है, गोकि शमा के हिन्दी प्रकाशन, सुषमा, में ऐसी नायाब कोशिशें देखते बनती हैं।

ज़ाहिर है शब्द पर निर्भरता कुछ ज़्यादा थी, लेकिन ख़ास तौर पर फ़िल्मों के विज्ञापन के तरीकों में सफ़ेद-स्याह और स्टूडियो में हाथ से रंगीन किए हुए फ़ोटो दोनों का इस्तेमाल मिलता है। पहले सरस्वती, माधुरी और इन सबसे ज़्यादा चाँद और भविष्य ने रंगीन तस्वीरों और फ़ोटुओं की सत्ता स्थापित कर ही दी थी। चित्रपट का आवरण 'उस समय का रंगीन' होता था, बीच में किसी नायिका की फ़िल्मी तस्वीर के साथ, पहले पन्ने पर सियारामशरण गुप्त, हरिऔध, हंसकुमार तिवारी या स्वयं नेपाली-जैसे किसी प्रसिद्ध कवि की एक छोटी-सी कविता होती थी और अंदर के पत्रों में ढेर-सारी तस्वीरें होती थीं, जिनके नीचे दोहे या कभी-कभार शेर भी होते थे, नायिका या फ़िल्मी दृश्य की मुद्रा से मेल खाते या भावों में अभिवृद्धि करते। चूँकि इन कविताओं, पेंटिंग या फ़ोटुओं को क्रेडिट देने का रिवाज नहीं चला था, इसलिए हम इनके रचनाकारों के बारे में अमूमन अभिज्ञ हैं। पाठक याद करेंगे कि बरास्ता शमा-सुषमा, नामज़दगी के साथ यह रियाज़ अरविंद कुमार की माधुरी के शुरुआती सालों तक चलता है। चित्रपट विशेषांक छापने के अपने दुस्साहस का ब-आवाज़-ए-बुलंद ऐलान करता है और मानना पड़ेगा कि साज-सज्जा, उत्कृष्ट सामग्री की विविधता और कलेवर (300 से ज़्यादा पृष्ठ) को देखते हुए मुझे उस दौर की कोई फ़िल्मी पत्र-पत्रिका, जो इसके नववर्षांक से टक्कर ले सके, अब तक नहीं दिखी है।



प्रौद्योगिकी के विलायती संस्कार: स्वदेशी भाषा के नवाचार

हिंदी के भाषांगन में अनवरत क्रीडारत मुंशी चप्पलदास ने एक बार विस्मित होकर चुटकुला छोड़ा था, 'फ़िल्मों की भाषा भी कुछ ऐसी होती है कि न पूछिये। स्थल-स्थल पर ऐसे शब्द आते हैं, जैसे किशमिशों के ढेर में 'अखरोट' के छिलके डाल दिये हों! ...फिर सिनेमा-हॉलों में ऐसे-ऐसे लोगों से मुलाकात होती है, जो ऐक्टर और ऐक्ट्रेसों की बोली सुनकर हिंदी-भाषा का अंदाज़ा लगाते हैं! पूछते हैं, क्या हिंदी यही है? जी हाँ, यही है, और फ़िल्म डाइरेक्टर इस भाषा के विधाता!'⁵⁰ इसी तरह सुलोचना या टेम्पल बेल की दीर्घ-दीर्घायित समीक्षा करते हुए समीक्षक ने भारतीय फ़िल्मों के अंग्रेज़ी उपनाम रखने पर आपत्ति जताई और बताया कि दरअसल यह फ़िल्म एक अमेरिकी फ़िल्म रासपुतिन ऐंड दी एम्प्रेस के आरंभिक दृश्य में आये गिरजे के घंटों की दृश्य-नक़ल को शाब्दिक अनुवाद के रूप में ढालने की अनुचित कोशिश है। क्योंकि 'भारतीय मंदिरों के बुरजों में ऐसे घंटे नहीं लगते'। आगे:

सुलोचना-जैसी उच्च-कुल ब्राह्मण-कन्या के लिये रात के समय महल में चले जाना कहाँ तक उचित था, यह हमारी समझ में नहीं आता। जो लड़की इतनी ईश्वरभक्त और धर्मभीरु हो, वह चाहे राजा से प्रेम ही करती हो — पर बिना विवाह हुए रात के समय अपने प्रेमी के महल में जाना स्वीकार कर ले हमें तो यह असम्भव प्रतीत होता है। यह तो भारतीय संस्कृति के विरुद्ध है। अव्वल तो ब्राह्मण-कन्यायें राजपूत-राजाओं से विवाह नहीं करती थीं...हम मि. चौधरी से निवेदन करते हैं कि उन्होंने इस बात में चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भूल की है, और भीषण भूल की है।⁵¹

कहकर शर्मा जी ने निष्कर्ष यह दिया कि रात्रि-अभिसार के किसी विदेशी कथानक की अंधी नक़ल करके इस फ़िल्म के लेखक ने 'वास्तविकता और कलापूर्णता' दोनों की सम्भावना को नष्ट कर दिया है। ज़ाहिर है कि इतिहास की जो किताबें शर्मा जी ने पढ़ी हैं,

⁵⁰ 'बेभावकी', चित्रपट, 12 जनवरी, 1934 : 28.

⁵¹ 'परख : सुलोचना-2', चित्रपट, 19 जनवरी, 1934 : 28.

उनमें उच्च कुलों के बीच भी अंतर्जातीय विवाह नहीं होते थे, न ही ब्राह्मणकुमारियाँ रात्रि को अभिसार करती थीं। ग़नीमत है कि उन्होंने यह सिद्ध करने की कोशिश नहीं की कि 'अभिसार' शब्द संस्कृत का नहीं है! संवाद की भाषा उन्हें भद्दी लगी, क्योंकि वह शुद्ध हिंदी नहीं थी। एक संवाद में उन्हें 'खुशियों का खयाल' खटकता है, और लगता है कि 'बाप' की जगह 'पिता' होता तो 'सौंदर्य कई गुना और बढ़ गया होता'! एक शुद्धतावादी वर्तमानकालिक आदर्श है जाति, भाषा, संस्कृति और राष्ट्र का, जिसे भूत के काल्पनिक स्वर्णकाल में प्रक्षेपित किया जा रहा है, ऐसा इतिहास और ऐसी संस्कृति जो सर्वथा सुसंस्कृत थी, 'किशमिश में अखरोट के छिलके' की अवांछित संकरता जिसे छू भी नहीं गयी थी। जहाँ प्रेम पारिवारिक बाड़े के अंदर किया गया वैध लेकिन अदृश्य कृत्य है। दक्षिण एशिया के एक चोटी के कहानीकार स'आदत हसन मंटो की वेश्या-केंद्रित सहमार्मिक कहानियों को हिंदी की ऐसी ही आदर्श नारियों — 'बहन-बेटियों'— के विषम, कठिन-कठोर आदर्शों के बरअक्स रखकर इन्हें 'राष्ट्रीय नैतिक यथार्थवाद' का सटीक नाम दिया था विद्वान आमिर मुफ़्ती (2000) ने। हम वेश्याओं के प्रति चित्रपट का रुख देख चुके हैं और सिने-अभिनेत्रियों से उनकी पूरी समकक्षता ठहराने की पत्रिका की निर्द्वंद्व चेष्टा भी। हम चाहें तो एक बार फिर मंटो की कहानियों को अपने दिमाग़ में चला सकते हैं, या 'कसौटी'-जैसे उनके लेख पढ़ सकते हैं।⁵² बहरहाल इतना तय लगता है कि बीसवीं सदी की भाषा की राजनीतिक लड़ाई संस्कार की शेष लड़ाइयों से अलग नहीं थी, और वाचाल सिनेमा एक नया इलाक़ा था, जिस पर शुद्ध हिंदी का क़ब्ज़ा धारावाहिक शृंखला का एक 'एपिसोड' या कड़ी था।

लेकिन इलाक़ा चाहे नया हो, ऐतिहासिक कहानी तो फिर भी पुरानी है, और प्रिंट की इस चिर-परिचित कहानी का महज़ दुहराव लगेगी, अगर हम एक नयी तकनीक से स्वदेशी मुठभेड़ और उसके रचनात्मक परिणामों की सफलता-असफलता पर विचार न कर लें। डेविड आर्नल्ड (2013) ने बीसवीं सदी की सिलाई मशीन जैसी कुछ आम उपयोग की मशीनों के अध्ययन में हमें बताया है कि वह ज़माना स्वदेशी का था और कई विदेशी

⁵² स'आदत हसन मंटो (1995) : खण्ड-4 : 60-64.

कम्पनियों अपने नामांतरण कर देसी हो जाती थीं और बखूबी व्यापार करती रहती थीं। सांस्कृतिक उद्योगों के हिसाब से यह मसला उतना सतही नहीं है : पाश्चात्य प्रौद्योगिकी अपने शरीर पर 'मेड इन फ़्लाना कंट्री' का लेबल चस्पाँ करके आती थीं, लेकिन उनका आम इस्तेमाल होता था, तो हर वर्ग के लोग कल-पुर्जों के नामों की दैनंदिन तर्जुमानी करते ही थे : ऊपर हमने बायस्कोप के 'हिंदीकरण' की मिसाल देखी। लेकिन मेरे खयाल से किसी तकनीक को पुनर्नामित करने का यह रचनात्मक श्रम एक दिलचस्प भाषिक-सांस्कृतिक इतिहास का विषय बन सकता है।

आइए, उस ज़माने में इस्तेमाल किए जा रहे कुछ प्रयोगों पर एक उड़ती-सी नज़र डालें और विचारें कि उसके बाद के दौर में उनका क्या हुआ। टॉकी का ज़माना आया ही था, और अपने साथ एक नयी तरह की उत्तेजना और उत्साह लेकर, जिसकी निशानदेही करते कागज़ी विज्ञापन फ़िल्म इतिहास में बार-बार और लगातार उद्धरण के शिकार होकर घिस-से गये हैं। उनको न दुहराते हुए पहले अपने कागज़ी मुखबिर के नाम 'चित्रपट' को ही लें। यह शब्द चाँद के 'सिनेमा तथा रंगमंच' स्तंभ में और शायद कई और पत्रिकाओं में इस्तेमाल ही चला था। उसके साथ-साथ सिनेमा और उसके 'शो' के लिए खेल, तमाशा, रजतपट, रुपहला पर्दा तो 'मूविंग इमेजेज़' की तर्जुमानी में 'चलता-फिरता', 'चलित', 'सचल', 'सजीव', 'जीवंत', 'चित्र', 'तस्वीर' आदि पहले से चले आ रहे थे। उनमें 'सवाक', 'वाचाल', 'बोलते', 'मुखर' और 'बोलपट'-जैसे-अद्भुत और नये विशेषण और निकाले गये, जिनमें से कुछ समय तक कई चले भी, लेकिन आजकल शायद ही सिनेमा को इन नामों से जाना जाता है, भले ही 'सजीव' और 'जीवंत' को टेलिविज़न के ज़माने में झाड़-पोंछकर फिर सेवा में लगाया गया। जैसे ही टॉकीज़ की नवइयत गयी, सिनेमा या सिनेमा-घर को उस नाम से पुकारने का सिलसिला बंद होने लगा। आज्ञादी से पहले सिनेमा-घरों के नाम अक्सरहाँ अंग्रेज़ी में रखे जाने⁵³ का चलन था, फिर धीरे-धीरे हिंदी ने उनकी जगह ली, लेकिन वैश्वीकरण और मल्टीप्लेक्स के ज़माने में फिर से कुछ ख़ास

⁵³ धनीराम 'प्रेम' के मुताबिक, 'भारतवर्ष में अभी तक सिनेमा घरों के नाम हिंदी में नहीं रखे गये : केवल कलकत्ता, काशी और प्रयाग में ही दो-एक सिनेमा घर के नाम 'छविघर', 'रूपवाणी', और 'चित्र' जैसे हैं। यदि कोई और कहीं हो तो मेरी दृष्टि से नहीं गुज़रा', 'सिनेमा-घर', चित्रपट, नववर्षांक, 1934 : 134.

इज़ारेदार, अंग्रेज़ी और जातिवाची संज्ञाओं का बोलबाला हो चला है, जिसमें व्यक्तिवाची नाम कहीं-कहीं अपना अस्तित्व बचा पाए हैं।

थोड़ी हैरानी की बात है, लेकिन व्याकरण भी बदला। चित्रपट के दौर में फ़िल्म का लिंग पुल्लिंग था, जो शायद छठे दशक में जाकर स्त्रीलिंग हो गया, लेकिन उच्चारण में विविधता जारी रही : 'फिल्लम' या 'फिलिम' पढ़े-लिखे लोग उपहास में तो ज़्यादातर आदतन बोलते रहे हैं। जब सिनेमा बोलने लगा तो तपाक-से पीछे मुड़कर लिखने वालों ने 'सायलेन्ट' या ख़ामोश फ़िल्मों को 'बेबोलते', 'अवाक', 'मूक' या 'चुप'— सिनेमा कहा। समीक्षा की रस-सिद्धांत की कसौटियों पर फ़िल्मों को अक्सर 'हास्य-रस', 'वीर रस', 'शृंगार रस', 'वीभत्स' आदि कोटियों में रखा जाता था, बल्कि अभिनेताओं-अभिनेत्रियों और डायरेक्टरों की अर्हताएँ और दक्षताएँ भी इन्हीं कोटियों के अनुरूप कसकर देखी जाती थीं। स्वयं अभिनेता-अभिनेत्री के लिए संस्कृत नट-नटी भी चलता था, कहानी को कथानक कहते थे, 'पटकथा' लफ़्ज़ तो आया नहीं था, लेकिन स्क्रिप्ट या सिनैरियो के लिए 'प्रतिन्यास' चलता था, जो कहीं वक्त की गर्दिश में गुम हो गया। लेखकों के आगे 'मुंशी' या 'पंडित' लगाने का जातिवाचक रिवाज था, जो नवल किशोर प्रेस के ज़माने से साहित्य से भी आ रहा था और नाटकों से भी।

फ़िल्म समीक्षा साहित्यिक अनुकृति में 'आलोचना' या 'समालोचना' कही जाती थी, और समीक्षा के स्तंभ को चित्रपट में 'परख' कहा जाता था, जिसे बाद में माधुरी ने भी अपनाया, हालाँकि सुषमा में 'कसौटी' चलती थी। चौथे ही दशक में देखने वालों के लिए 'दर्शक', 'प्रेक्षक' और उसमें भी 'चवन्नी' वर्ग की कल्पना की जा चुकी थी; सिनेमा के प्रतिबद्ध प्रशंसकों के लिए 'सिनेमा-प्रेमी' और 'सिनेमा-भक्त' भी इस्तेमाल हो रहा था, लेकिन सिनेमा के साथ 'सेवक' या 'सेवी' लगाने में लोगों के संस्कार आड़े आ रहे थे। विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक' ने चित्रपट के नववर्षाक के लिए एक प्रहसन लिखा — 'चलेगा!', जिसमें उन्होंने गुजराती निर्माताओं की प्रखर व्यावसायिक लेकिन सुस्त कलात्मक बुद्धि का मख़ौल उड़ाया।⁵⁴ हिंदी सिने-व्यवसाय में मुम्बइया '[सब] चलता है'

⁵⁴ विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक' (1934), "चलेगा!" (प्रहसन), चित्रपट, नववर्षाक : 101-106.

तब से चलता है, और जिसमें नीर-क्षीर विवेकी कलात्मक कोलकाता की बांग्ला अभिव्यक्ति 'चोलबे ना' से विरोधाभास साफ़ है! व्यापार के इलाक़े में डिस्ट्रीब्यूशन के लिए 'आढ़त' या 'वितरण' जैसे शब्द आसान थे, और चित्रपट में तो नहीं, लेकिन जल्द ही निर्देशक, दिग्दर्शक और हिदायतकार डाइरेक्टर के लिए प्रयुक्त होने लगे।

चित्रपट या दीगर पत्रिकाओं में ऐसे लेख लगातार छप रहे थे, जो सिनेमा की तकनीकी शब्दावली का स्थानीयकरण कर अपने पाठकों के लिए सुगम और सुग्राह्य बना रहे थे। साउंड रिकॉर्डिंग के लिए 'ध्वनि आलेखन' ख़ूब चल रहा था, जबकि लाइटिंग के लिए 'प्रकाशन' आया तो पर प्रिंट के अर्थ-एकाधिकार के चलते ज़्यादा चला नहीं। 'प्रकाश और छाया' लाइट और शेड के समानार्थी थे, जबकि अंदरूनी दृश्य के लिए 'अभ्यंतरिक दृश्य' भी चलाया गया। सिनेमैटोग्रफ़र के लिए 'आलोक चित्रकार' और सिनेमैटोग्रफ़ी के लिए 'दृश्यरचना विज्ञान' और 'चित्रपट विज्ञान' जैसे प्रयोग उतने दिलचस्प नहीं थे, जितने कि स्टिल्स के लिए 'जड़ चित्र', लेकिन कैमरा-जैसी हस्तामलक हो जाने वाली चीज़ के लिए 'छायाग्रही यंत्र' जैसे दुराग्रही आविष्कार को तो फ़्लॉप होना ही था। उसी तरह इस समय के 'पृष्ठ-संगीत' जैसे शाब्दिक अनुवाद की जगह आगे चलकर पार्श्व-संगीत ने ले ली। सिनेमा-संचालकों के लिए 'परिचालक', प्रॉजेक्शन के लिए 'प्रक्षेपण' और आर्ट डायरेक्टर के लिए कला-दिग्दर्शक हम सुनते हैं। रंगभूमि ने सिनेमा-हॉल के लिए 'चित्रपटालय' इस्तेमाल किया, जिसका हश्र हम जानते हैं, लेकिन बाद में इस तरह की संधियाँ या शब्द-मैत्रियाँ 'फ़िल्मिस्तान' और 'फ़िल्मालय' नामी निर्माण कंपनियों के बहुत काम आयीं। समीक्षक सिनेमा की गुणवत्ता को 'उत्तम' (जो विरले होता था), 'मध्यम' या 'अन्य' की कोटियों में बाँटता था : आखिरी दर्जे की फ़िल्म निहायत सड़क छाप है, 'चवन्नी-छाप'

दर्शकों को फिर भी पसंद आ सकती है, यह समीक्षक अक्सर बता देता था। गिनकर सलमा-सितारे टॉक के ग्रेड देने की प्रथा तो काफ़ी बाद में चली।



उपसंहार

उम्मीद है कि सिनेमा के एक संक्रमणशील और आलोड़नशील दौर का दस्तावेज़ीकरण करने वाली हिंदी पत्रिका(ओं) की यह ऐतिहासिक बानगी उस युग, उसकी फ़िल्मों और उनके बारे में हिंदी में लिख रहे बहुभाषी बुद्धिजीवियों के मुख्तलिफ़ रवैये का आस्वाद करा पाई होगी। चाँद और चित्रपट की मंशा दस्तावेज़ीकरण की हरगिज़ नहीं थी : बल्कि जैसा कि सर्वपल्ली राधाकृष्णन के आमुख-उद्धरण से साफ़ है, सिनेमा को उपयोगितावादी और सुधारवादी नज़रिये से देखा जा रहा था। इसकी परवान चढ़ती लोकप्रियता का दुर्निवार आकर्षण हिंदी के संपादकों को अपने संस्कारों से मुठभेड़ करने को मजबूर करता है, और वे इस नये खुलते उपनिवेश या बाज़ार पर अपना अख्तियार हासिल करने को उत्सुक हैं। लेकिन मनवांछित और प्रामाणिक दिशा में ले जाने से पहले व्यवसाय को अवांछित तवायफ़ों और उनके 'धनलोलुप-कामुक' संरक्षकों से आज्ञाद कराना ज़रूरी था। इस दिशा में हिंदी जनपद को उनके अपने इतिहास का दर्पण दिखाया जा रहा है ताकि वे अपने शुद्धतावादी खुमार में पारसी थिएटर के साथ किये गये छुआछूत को न दुहरायें, सिनेमा पर पैनी नज़र रखें और उसकी बेहतरी के लिए संगठित आवाज़ उठाएँ। उर्दू से हिंदी में आये सुपरस्टार अफ़सानानिगार प्रेमचंद और सुदर्शन में उम्मीदों का भारी-भरकम निवेश किया जाता है, जिन्होंने आखिर कुत्सित सड़क-छाप साहित्य की जगह सार्थक, शिक्षाप्रद और परिवर्तनकारी साहित्य की प्रतिष्ठा तो की ही थी। भविष्य का इतिहास बताता है कि सिनेमा को साहित्यानुरागी बनाने की यह मुहिम काफ़ी हद तक फलीभूत होती है, लेकिन समग्र भारतीय और कभी-कभार विश्व लोक-साहित्य से संवाद करके न कि सिर्फ़ हिंदी साहित्य पर मुनहसर हो कर— और फ़िल्म अध्येताओं ने अभी तक यह सवाल नहीं पूछा है कि भारतीय सिनेमा इतने लम्बे समय तक इतना साहित्यानुगामी क्यों रहा? उसी तरह, सुधारक-संपादकों द्वारा पतनशील सिनेमा परिसर को पारिवारिक गृहस्थी में तब्दील करने की सलाह भी दूरगामी, कारगर और कामयाब मानी जानी चाहिए। स्वाभाविकता की दलील देकर गानों की संख्या का परिसीमन मुख्यधारा के लोकप्रिय सिनेमा में अब जाकर ही पूरा हो पाया है, भले ही कलात्मक

सिने-आलोचकों के बीच यह लगभग एक स्थायी खटाराग रहा है। यह भी तय है कि सिने-मनोरंजन पर केंद्रित व्यापार-पत्रिका को भव्य विज्ञापनों, अधुनातन तकनीकी जानकारीयों और वैश्विक फ़िल्म वैचारिकी से हिंदी के पाठकों को वाक्किफ़ कराने का काम पहले साहित्यिक 'नारीवादी' चाँद और फिर चित्रपट ने बख़ूबी किया। कालांतर में बदलना तो था ही, सिने-पत्रकारिता सहित बहुत-कुछ बदला भी, लेकिन हैरानी होती है देख कर कि अवाक से सवाक के संक्रमण के ही दौर में कुछ चीज़ों की आवाज़ और उनका टोन जैसे सेट हो गया हो!

शुक्रिया

(चित्रपट मुहैया कराने के लिए [राष्ट्रीय फ़िल्म अभिलेखागार](#) पुणे, और नवर्षाक के लिए [ट्यूबिंगेन](#) के मित्र दिव्यराज अमिय का; चाँद के लिए प्रियंवद जी और रंगभूमि के लिए [नंदकिशोर जी](#) का; लेख के पहले मसौदे पर टिप्पणी के लिए रवि वासुदेवन, शाहिद अमीन और रंजनी मजुमदार का। नेहरू स्मृति पुस्तकालय और संग्रहालय में की गयी प्रस्तुति के अंश [राज्य सभा टीवी](#) पर उपलब्ध हैं। इसके लिखे जा रहे टुकड़ों को धैर्यपूर्वक सुनने और हौसला-अफ़ज़ाई के लिए विनीत कुमार, प्रभात कुमार, दीपू शरण, प्रभात झा, नरेश गोस्वामी, मनोज मोहन, सौम्या गुप्ता, अनोहिता और सुरम्या का, और आखिर में प्रतिमान टीम में अभयजी, चंदन और जाँय का धन्यवाद, जिन्होंने लेख को इतना सुदर्शन बनाया। यह प्रतिमान अंक-15 में छपे लेख से थोड़ा अलग और मूल तस्वीरों से लैस संस्करण है।)

संदर्भ

अजय ब्रह्मात्मज (2006), सिनेमा की सोच, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

अनुष्टुप बसु (2018), 'फ़िल्मफ़ेयर ऐंड द क्वेश्चन ऑफ़ बेंगाली सिनेमा (1955-65)', साउथ एशियन हिस्टरी ऐंड कल्चर 9:2, 141-158:

अरविंद कुमार (2016), शब्दवेध : शब्दों के संसार में सत्तर साल : एक कृतित्व कथा, अरविंद लिंग्विस्टिक्स प्राइवेट लि., नयी दिल्ली.

अविनाश दास (2020), 'सुचिंतित आलोचना का सूखा कब खत्म होगा?' तद्भव-41, विशेष अंक, पत्रकारिता : यथार्थ, आभास और दुःस्वपन : 306-309.

अविनाश कुमार (2002), 'हिंदी पत्रकारिता : प्रिंट संस्कृति के बदलते परिदृश्य (1900-1940)', रविकान्त व संजय शर्मा (सं.) दीवान-ए-सराय 01 : मीडिया विमर्श : // हिंदी जनपद, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

आमिर मुफ़्ती (2000), 'अ ग्रेटर स्टोरी-राइटर दैन गॉड : जॉनर, जेंडर ऐंड माइनोंरिटी इन लेट कोलोनीयल इंडिया', पार्थ चटर्जी व प्रदीप जगन्नाथन (सं.), सबाल्टर्न स्टडीज़ XI : कम्युनिटी, जेंडर ऐंड वायलेंस, परमानेंट ब्लैक, नयी दिल्ली.

आशीष राजाध्यक्ष और पॉल विलमैन (1999), एनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ इंडियन सिनेमा, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

ओंकारप्रसाद माहेश्वरी (1978), हिंदी-चित्रपट का गीति साहित्य, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा.

इक्रबाल रिज़वी (2019), महात्मा गाँधी और सिने संसार, इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केंद्र, नयी दिल्ली.

इरा भास्कर व रिचर्ड ऐलेन (2009), इस्लामिकेट कल्चर्स ऑफ़ बॉम्बे सिनेमा, तूलिका बुक्स, नयी दिल्ली.

क्लॉस ब्रुन हेन्सेन 2016, 'इंटरमीडिएलिटी', दि इंटरनैशनल एनसायक्लोपीडिया ऑफ़ कम्युनिकेशन थियरी ऐन्ड फ़िलॉजॉफी: <https://onlinelibrary.wiley.com/doi/pdf/10.1002/9781118766804.wbiect170>

कैथरीन हैन्सन (2003), 'लैंग्वेजेज़ ऑन स्टेज : लिंग्विस्टिक प्लुरलिज़म ऐंड कम्युनिटी फ़ॉर्मेशन इन लेट नाइन्टीन्थ सेन्चुरी पारसी थिएटर', मॉडर्न एशियन स्टडीज़, खण्ड 27, अंक 2, मई.

कौशिक भौमिक 2001. "दि एमर्जेन्स ऑफ़ द बॉम्बे फ़िल्म इंडस्ट्री". पीएच.डी. शोध प्रबंध, केम्ब्रिज विश्वविद्यालय.

ख्वाजा अहमद अब्बास (1993), 'के. अहमद अब्बास राइट्स अ लेटर टू महात्मा गाँधी', शमिक बंधोपाध्याय (सं.), इंडियन सिनेमा : कन्टेम्परेरी पर्सेप्शंस फ़्रॉम द थर्डेज़, जमशेदपुर : सेल्यूलॉयड चैप्टर.

----- (2011) 'दो चेहरे', बेहतरीन अफ़साने, (अनु.) एम. नदीम. पुस्तक सदन, नयी दिल्ली.

चारु गुप्ता (2001), सेक्शुअलिटी, ऑब्सेनिटी, कम्युनिटी : वीमेन, मुस्लिम ऐंड द हिंदू पब्लिक स्फ़ियर इन कोलोनियल इंडिया, पर्मानेंट ब्लैक, नयी दिल्ली.

टी.एम. रामचंद्रन (1985), 'फ़िल्म जर्नलिज़म इन इंडिया', टी. एम. रामचंद्रन (सं.), सेवेंटी इयर्स ऑफ़ इंडियन सिनेमा (1913-1983), अ सिनेमा इंडिया इंटरनैशनल पब्लिकेशन, मुम्बई.

डेविड आर्नल्ड (2013), एवरीडे टेक्रॉलॉजी : मशीन्स ऐंड द मेकिंग ऑफ़ इंडिया'ज़ मॉडर्निटी, युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो.

देबश्री मुखर्जी (2013), 'सिनेमा'ज़ रीडिंग पब्लिक्स : दि एमर्जेन्स ऑफ़ फ़िल्म जर्नलिज़म इन बॉम्बे', रवि सुंदरम (सं.), नो लिमिट्स : मीडिया स्टडीज़ फ़्रॉम इंडिया, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

----- (2020). बॉम्बे हसल: मेकिंग मूवीज़ इन अ कोलोनियल सिटी. न्यू यॉर्क: कोलंबिया युनिवर्सिटी प्रेस.

नरेश कुमार (2019), 'हिंदुस्तानी म्यूज़िक इन द 20थ सेंचुरी : म्यूज़िक फ़ेस्टिवल्स, ब्रॉडकास्टिंग ऐंड म्यूज़िक पब्लिशिंग', एम. फ़िल. शोध-प्रबंध, स्कूल ऑफ़ लिबरल स्टडीज़, आम्बेडकर विश्वविद्यालय, दिल्ली.

नारायण प्रसाद 'बेताब' (2002), बेताब चरित, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नयी दिल्ली.

नीपा मजुमदार (2010), वॉन्टेड कल्चर्ड लेडीज़ ओन्ली! फ्रीमेल स्टारडम इन इंडिया, 1930-50, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

पण्डित राधेश्याम कथावाचक (2004), मेरा नाटक-काल, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नयी दिल्ली.

परिषद-पत्रिका : शोध और आलोचना त्रैमासिक (गोपाल सिंह नेपाली विशेषांक), बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, वर्ष 39, अंक 1-4, अप्रैल 1999-मार्च 2000.

पार्थो चैटर्जी (1994), द नेशन ऐंड इट्स फ़्रैग्मेंट्स, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

प्रियंवद (सं.)(2018), चाँद और माधुरी संयुक्त संचयन : विविध व परिशिष्ट खण्ड (7), वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर.

फ्रंचेस्का ओर्सीनी (2003), द हिंदी पब्लिक स्फ़ियर, 1920-1949, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

----- (2009), प्रिंट ऐंड प्लेज़र : पॉपुलर लिटरेचर ऐंड एन्टरटेनिंग फ़िक्शंस इन कोलोनियल नॉर्थ इंडिया, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

बच्चन श्रीवास्तव (1976), 'फ़िल्मी पत्रकारिता', डॉ. वेदप्रताप वैदिक (सं.), हिंदी पत्रकारिता : विविध आयाम, भाग-1.

भारत सरकार (1951), फ़िल्म एन्क्वायरी कमिटी रिपोर्ट, गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया प्रेस, नयी दिल्ली.

यूसुफ़ सईद (2020, 2013), 'इश्तिहार तस्वीरें: विजुअल कल्चर ऑफ़ अली उर्दू मैगज़ीन्स', गुफ़्तगू/तस्वीर घर.

महेश आनंद (सं.)(2007), रंग दस्तावेज़, दो खण्ड, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नयी दिल्ली.

रविकान्त (2016), 'हिंदी फ़िल्म अध्ययन : माधुरी का राष्ट्रीय राजमार्ग', मीडिया की भाषा-लीला, सीएसडीएस+वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

----- (2019), 'विभाजन के बावजूद : चंद गुमनाम ग़ैर-विभाजित फ़िल्में', आलोचना त्रैमासिक-59, विभाजन के 70 साल-1, जनवरी-मार्च.

रवि एस. वासुदेवन (2015), 'फ़िल्म जॉनर्स , द मुस्लिम सोशल ऐंड डिस्कोर्सेज़ ऑफ़ आयडेंटिटीज़, 1935-45', बायोस्कोप : साउथ एशियन स्क्रीन स्टडीज़, 6 (1).

राजकुमार केसवानी (2011), बॉम्बे टॉकी : बातें फ़िल्मों की ... फ़िल्मी गीतों की, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

राम मुरारी (2013), 'फ़िल्म पत्रिकाओं का इतिहास', नया पथ : हिंदुस्तानी सिनेमा के सौ बरस, जनवरी-जून.

रेचेल डॉयर (2001), 'शूटिंग स्टार्स : दि इंडियन फ़िल्म मैगज़ीन स्टारडस्ट', रेचेल डॉयर व क्रिस्टफ़र पिन्नी (सं.), द हिस्ट्री, पॉलिटिक्स ऐंड कंज़म्प्शन ऑफ़ पब्लिक कल्चर इन इंडिया, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

रोज़ी टॉमस (2011), 'डिस्टेन्ट वॉइसेज़, मैजिक नाइव्स : लाल-ए-यमन ऐंड द ट्रांज़ीशन टू साउंड इन बॉम्बे सिनेमा', रेचेल डॉयर ऐंड जेरी पिंटो (सं.), बियाँड द बाउन्ड्रीज़ ऑफ़ बॉलीवुड : द मेनी फ़ॉर्म्स ऑफ़ हिंदी सिनेमा, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

ललित जोशी (2009), 'सिनेमा ऐंड हिंदी पीरियॉडिकल्स इन कॉलोनियल इंडिया : 1920-1947', मंजू जैन (सं.) नैरेटिव्स ऑफ़ इंडियन सिनेमा, प्राइमस बुक्स, नयी दिल्ली.

वसुधा डालमिया (1997), नैशनलाइज़ेशन ऑफ़ हिंदू ट्रेडिशनल्स : भारतेंदु हरिश्चंद्र ऐंड नाइटिंग्थ सेंचुरी बनारस, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

वाय.ए. फ़ज़लभाँय (1939), इंडियन फ़िल्म : अ रिव्यू, बॉम्बे रेडियो प्रेस, बम्बई.

विनोद भारद्वाज (2006), सिनेमा : कल आज और कल, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

विनोद तिवारी (2007), फ़िल्म पत्रकारिता, माखनलाल चतुर्वेदी विश्वविद्यालय पत्रकारिता एवं संचार विश्वविद्यालय+वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

विभास चंद्र वर्मा (2013), 'पन्ने पर बोलपट', नया पथ : हिंदुस्तानी सिनेमा के सौ बरस, जनवरी-जून.

विभूति दुग्गल (2015), 'द कम्युनिटी ऑफ़ लिस्त्रर्स : रायटिंग अ हिस्ट्री ऑफ़ हिंदी फ़िल्म म्यूज़िक ऑरल कल्चर्स', पीएचडी शोध-प्रबंध, सिनेमा स्टडीज़, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय.

विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक' (1934), "चलेगा!" (प्रहसन), चित्रपट, नववर्षाक : 101-106.

वीर भारत तलवार (1994), राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य : कुछ प्रसंग, कुछ प्रवृत्तियाँ, 'सेवासदन पर फ़िल्म : राष्ट्रीय आंदोलन का एक और पक्ष', हिमाचल पुस्तक भण्डार, नयी दिल्ली.

शंभुनाथ व रामनिवास द्विवेदी (सं)(2012), हिंदी पत्रकारिता हमारी विरासत, खण्ड-1 व 2, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

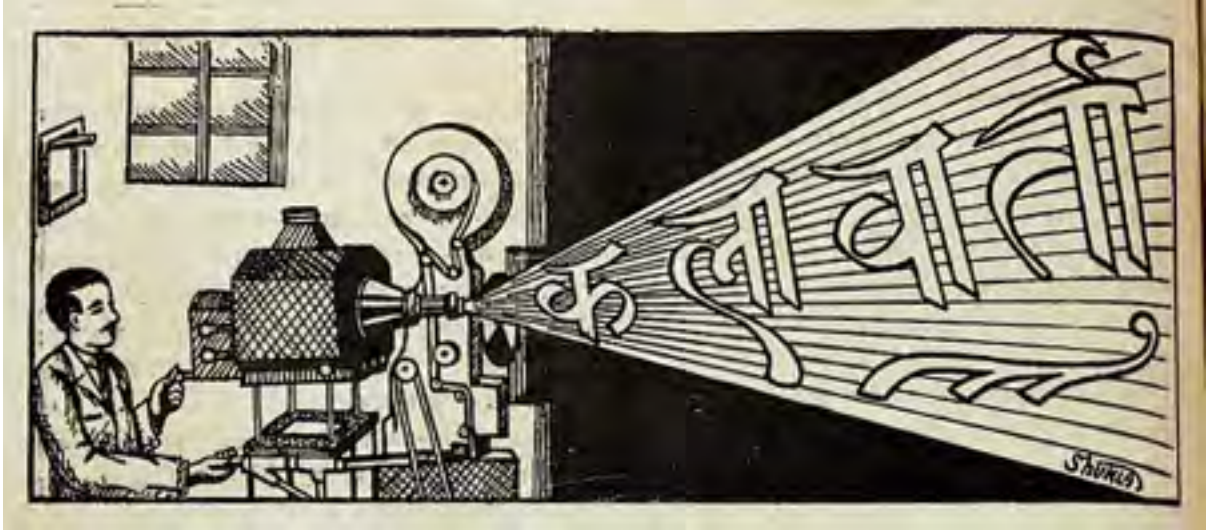
स'आदत हसन मंटो (1995), 'कसौटी', शरद दत्त व बलराज मेनरा (सं.) दस्तावेज़ मंटो, खण्ड-4, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

सबीना गडिहोक(2010), 'सेलिंग सोप ऐंड स्टारडम: द स्टोरी ऑफ़ लक्स', तस्वीर घर: अ डिजिटल आर्काइव ऑफ़ साउथ एशियन पॉप्युलर विजुअल कल्चर्स.

सिद्धार्थ भाटिया (2015), द पटेल्स ऑफ़ फ़िल्मइंडिया: पायनियर्स ऑफ़ इंडियन फ़िल्म जर्नलिज़म, इंडस सोर्स बुक्स, मुम्बई.

स्टीफ़न पटनम ह्यूज़ (2007), 'म्यूज़िक इन दि एज ऑफ़ मैकेनिकल रिप्रॉडक्शन : ड्रामा, ग्रामोफ़ोन, ऐंड द बिगिनिंग ऑफ़ तमिल सिनेमा', जर्नल ऑफ़ एशियन स्टडीज़, खण्ड 66, नं. 1, फ़रवरी.

हरमन्दिर सिंह 'हमराज़' (1988-2018), हिंदी फ़िल्म गीत कोश, खण्ड 1-6, कानपुर.



PAPERS IN THE SERIES

1. In India's Life and Part of It
Film and Visual Publicity at Burmah-Shell from the 1920s to the 1950s
Ravi Vasudevan
2. फ़िल्म पत्रकारिता का आदिकाल :
चाँद, चित्रपट और अन्य कहानियाँ
रविकांत
3. The Contemporary Moment of Indian Democracy
Hilal Ahmed



centre for the
study of developing
societies

WWW.CSDS.IN/CSDS_DIGIPAPER_SERIES